चुप्पियाँ
और
दरारें
मुसलमान स्त्रियों की
आत्मकथाएँ
गरिमा श्रीवास्तव

■ 'जो औरतें बेहयाई का काम करें, तुम्हारी बीवियों में से, सो तुम लोग उन औरतों पर चार आदमी अपने से गवाह कर लो। अगर वे गवाही दे दें, तो तुम उनको घरों के अंदर क़ैद रखो। यहाँ तक कि मौत उनका ख़ात्मा न कर दे या अल्लाह उनके लिए कोई और रास्ता निकाल दे।' (क़ुरान, आयत 15)
■ 'और जो औरतें जवानी की हद से उतर कर बैठ चुकी हों, अगर वे अपनी चादरें रख दें तो उन्हें कोई गुनाह नहीं। अलबत्ता उनका इरादा साज-सिंगार का नहीं होना चाहिए, लेकिन अगर फिर भी वे लज्जा-संकोच से चादरें डालती रहें, तो उनके हक़ में बेहतर है। अल्लाह तो सब कुछ सुनता और जानता है।' (24, सूरह नूर, आयत 60)
■ अपने घरों में शराफ़त से रहो, बनाव-सिंगार जो अज्ञानता के जमाने में लोगों को दिखाने के लिए होता था, उसे छोड़ दो, नमाज़ को क़ायम रखो। ज़कात अदा करती रहो और अल्लाह और उसके रसूल का हुक़्म मानती रहो।' (33, सूरह अहज़ाब, आयत 33)

पंद्रहवीं शताब्दी के ऑटोमन साम्राज्य की तुर्की कवयित्री मिहरी हातून की कविताओं को मुसलमान स्त्रियों के संदर्भ में प्रारम्भिक दौर की आत्माभिव्यंजना के प्रमाण के तौर पर देखा जा सकता है। आधुनिक काल आते-आते मुसलमान स्त्रियों की आत्मकथाओं में पर्दा प्रथा का दबाव, पर निर्भर होने की पीड़ा, प्रेमाभिव्यक्ति के ख़तरे और पितृसत्ता और धर्म-क़ानून की जकड़ से निकलने की छटपटाहट प्रमुखता से व्यक्त हुई। अधिकांश स्त्रियों ने आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने की क़वायद, शिक्षा प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ, बहुपत्नी प्रथा, यौन-शिक्षा का अभाव, यौनिकता की अभिव्यक्ति जैसे विषयों पर लिखती हैं। परिवार के पुरुषों के विषय में बहुत खुल कर कुछ कहने से बचने को भी उनकी रचनात्मक रणनीति के तौर पर देखा जा सकता है। मुसलमान स्त्रियाँ चाहे युरोप में हों, या एशिया में, पर्दा-प्रथा पर ज़रूर बात करती हैं— हालाँकि यह बात उन सभी सामाजिक समूहों पर लागू होती है जिनमें पर्दा प्रथा किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। यह भी देखने की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की आत्मकथाओं में सेंसरशिप के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। कहीं तो अपने लिखे के न छप पाने का डर, कहीं लिखने की सुविधा छिन जाने का भय और कहीं पाठकों को अपने बारे में बताने का अवसर खो जाने का अंदेशा इतना ज़्यादा रहा है कि मध्यवर्ग से संबंधित स्त्रियाँ अपना अंतरंग खोलने का जोखिम नहीं ले पायीं। जिन्होंने यह चुनौती उठाई, उन्होंने भी यह स्वीकार किया कि उन्हें यह भय हमेशा से था कि हो सकता है कि पाठकों का एक बड़ा वर्ग उनके लिखे हुए को समाजविरोधी मानकर अस्वीकृत कर दे। भविष्य में भी उन्हें पाठक मिलते रहें और वे धर्मगुरुओं द्वारा निंदित भी न हों— इसके लिए यह ज़रूरी था कि वे लेखन में जीवन के सामान्य कार्य-व्यापारों की चर्चा करें। निजी बातों और सामाजिक-पारिवारिक दायरों को तोड़ कर, सामाजिक रीति-रिवाजों के विरुद्ध जाना उनके लिए बहुत जोखिम भरा था इसलिए बहुत दूर तक वे आत्मकथाकार के रूप में अपनी भूमिका नहीं निभा पातीं। दूसरी ओर इस्लाम और समाज-सुधारकों द्वारा तय स्त्री की आदर्श छवि, जिसे मौलाना थानवी जैसों ने *बहिश्ती जेवर* जैसी किताबें लिख कर लोकप्रिय कर दिया था, को बनाए रखना भी इनके सामने एक बड़ी चुनौती रही। जहाँ स्त्रियों को शारीरिक तौर पर पर्दे के बाहर निकलने की छूट भी मिली, वहाँ भी उन्होंने अपने अंतरंग को छुपाने के रास्ते ढूँढ़ ही लिए, आत्मकथात्मक प्रदर्शन के लिए उन्होंने नाटकीय भंगिमाएँ अख़्तियार कर लीं और इससे उनकी आवाज़ें परदे के भीतर ही रह गयीं— साथ ही उनकी यौनिकता भी।

मुसलमान स्त्रियों के आत्मकथ्यों पर विचार करते हुए हमें दक्षिण एशिया विशेषकर भारत के साम्प्रदायिक संघर्षों की पृष्ठभूमि को भी देखने-समझने की दृष्टि मिलती है। चारु गुप्ता ने दर्ज किया है कि हिंदुत्व के प्रचारकों ने 'हिंदू स्त्रियों को मुसलमान पुरुषों से अलग रखने, आपसी दूरी बनाए रखने की मुहिम चलाई ताकि वे स्त्रियों की यौनिकता पर नियंत्रण कर सकें, साथ ही अपनी साम्प्रदायिक

पहचान भी पुख़्ता कर सकें। उन्हें यह समझा दिया गया कि स्वस्थ, बलिष्ठ मुसलमान पुरुष उनके लिए ख़तरा हैं।'[1] दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान मुसलमान समाज-सुधारक भी अपने समुदाय की स्त्रियों को 'सुरक्षित' रखने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे थे। मुसलमान स्त्रियों की यौनिकता पर नियंत्रण करने के लिए परदे को और ज़रूरी बताया जाने लगा, धर्मग्रंथों और हदीस का हवाला देकर परदे को मर्यादा से जोड़ा गया और हिंदू स्त्रियों को ग़ैर-पर्देदारी से रहने वाला बताया गया। मुसलमान स्त्रियाँ, जो थोड़ा बहुत भी पढ़-लिख गयी थीं, उन्हें इस बात का अंदाज़ा था कि परदे की हद से बाहर एक विशाल और खुली दुनिया है। लेकिन परदे को तोड़ने और यौनिकता के मुद्दे पर खुलकर बोलने का साहस बहुत कम स्त्रियों के पास था। अभिजात स्त्रियाँ, जिनमें से कई भोपाल और रामपुर जैसी रियासतों से सम्बद्ध थीं, के लिए सच बोलने के ख़तरे कम थे। सत्ता और धन के बल पर वे प्रखर निंदा का शिकार होने से बच जाया करती थीं, साथ ही आभिजात्य ने उन्हें रसोईघर, बच्चों के लालन-पालन की ज़िम्मेदारियों से एक सीमा तक मुक्त रखा। इतना समय भी मुहैया कराया कि स्त्रियाँ आपस में खुल कर बोलें और लिख कर भी अपने आपको अभिव्यक्त कर सकें। भोपाल जैसी मुसलमान रियासतों में स्त्री-शासकों ने पर्देदारी के साथ बाहर की दुनिया से सम्पर्क बनाए रखा। स्कूल, कॉलेजों, क्लबों में उनका आना-जाना रहता था, जहाँ स्त्री-यौनिकता के मसलों पर अपेक्षाकृत खुली चर्चा की सम्भावनाएँ थीं। सेक्स संबंधी शिक्षा का अभाव पूरे समाज में था। विशेष रूप से मुसलमान समाज में जहाँ ख़ानदान के भीतर भी वैवाहिक संबंध होते थे, वहाँ भी घर में प्रेम, सेक्स जैसे विषय वर्जित थे। ज़्यादातर बच्चियाँ अक्षर-ज्ञान और क़ुरान पढ़ने तक ही सीमित थीं। माहवारी होते ही लड़कियों से स्कूल छुड़वा दिया जाता था। सेक्स या यौनिकता के मुद्दे इनके लिए वर्जित विषय थे, जिनका प्रभाव इन स्त्रियों के लेखन पर भी पड़ा।

उनके लेखन पर वास्तविक पाठक वर्ग की जगह एक काल्पनिक पाठक वर्ग हावी था। समाज-सुधार आंदोलनों और आंदोलनों ने स्त्री-शिक्षा के पक्ष में माहौल तैयार किया, जिसने आत्मकथा लेखन को गति प्रदान की। यह बात भी ग़ौरतलब है कि आत्मकथा-लेखन में प्रवृत्त होने के बावजूद इन स्त्रियों ने अपने अंतरंग जीवन के बारे में बहुत कम या नहीं लिखा। फिर भी मुसलमान स्त्रियों द्वारा लिखे आत्मकथ्यों, स्मृतियों— जो पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में पंजाब से बंगाल, रामपुर से हैदराबाद, पाकिस्तान, बांग्लादेश तक के लगभग डेढ़-दो सौ वर्षों के अंतराल में बिखरी हुई हैं— के वैविध्य और वैशिष्ट्य को रेखांकित किया जाना ज़रूरी है। यह देखना ज़रूरी है कि वे धर्म, परम्परा, परदेदारी और यौनिकता के मुद्दों पर क्या सोचती हैं— साथ ही इसके लिए उनके विधागत चुनाव क्या हैं। साथ ही कैसे औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक सामाजिक इतिहास की धारा के भीतर स्वयं को कहाँ और कैसे अवस्थित करती हैं। अपने आत्म को आवृत्त रख कर कल्पना के ताने-बाने बुन-चुन कर कविता, कहानी, उपन्यास लिखना और बात है; और आत्मकथ्य लिखकर पूरी दुनिया का सामना करने के लिए जो साहस चाहिए, वह इनमें है या नहीं; साथ ही सामाजिक इकाइयों से टकराने और सच को सच की तरह कहने का जज़्बा कितना है, उनकी चुप्पियों के क्या अर्थ हैं और उनका पाठ हम कैसे करते हैं। सेंसरशिप के दबाव और तनाव कैसे हैं और इन दबावों और तनावों का सामना करने के लिए मुसलमान औरतें किन औज़ारों का इस्तेमाल करती हैं। कई ऐसी स्त्रियाँ हैं जो आत्मकथ्य में निजी सवालों से बच कर निकल गयी हैं, जिससे पाठक को साफ़ समझ में आ जाता है कि वे निजी और पारिवारिक सेंसरशिप के दबाव में हैं, उनके आत्मकथ्य का सम्यक विश्लेषण व्यावहारिक जीवन, उसके मन के कोने-अंतरे, दरारें, चोट और पीड़ाएँ, नस्ल और रंगभेद, यौन अस्मिता, शोषण के विविध

[1] चारु गुप्ता (2000) : 268.

आयामी पक्ष, उसकी मनोसामाजिक, लैंगिक भेद और स्त्री-अस्मिता के साथ, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अपनाई गयी भाषा-भंगिमाएँ, विविध मुद्राएँ, प्रतिरोध के औज़ार, समर्पण और विवशता के कारणों की पड़ताल करना हम ज़रूरी समझते हैं। इन आत्मकथाओं पर हम निम्नलिखित बिंदुओं के तहत सोच सकते हैं :

(क) इन आत्मकथाओं का पाठक वर्ग कौन-सा है?
(ख) क्या आत्मकथाकार स्वयं को किसी विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि मान कर लिख रही है?
(ग) उसने किस सीमा तक कल्पना और नाटकीयता का सहारा लिया है?
(घ) 'टेक्स्ट' में रचनाकार की जीवनयात्रा की अभिव्यक्ति की प्रकृति क्या है— उसका लेखन और अस्मिता से क्या संबंध है?
(ङ) आत्मकथा में 'मैं' या 'तुम' को कितना और किस सीमा तक महत्त्व दिया गया है?
(च) अतीत की 'मैं' और वर्तमान की 'मैं'— जो आत्मकथा में व्यक्त है— उन दोनों का अंतर्संबंध क्या है?
(छ) आत्मकथ्य में क्या कुछ प्रयोग किये गये हैं? यदि 'हाँ' तो इन प्रयोगों की प्रकृति क्या है?
(ज) रचना में संस्कृति, दर्शन और आत्म के सामाजिक संदर्भ की अभिव्यक्ति की प्रकृति क्या है?
(झ) आत्मकथा लेखन का उद्देश्य क्या है ?
(त) स्त्री यौनिकता जैसे मुद्दों पर वह कितनी और किस सीमा तक मुखर है?
(थ) वे सेंसरशिप के विविध रूपों से किस तरह टकराती हैं?

■■■

स्त्री-वक्तव्यों के संदर्भ में यह माना जाता है कि सामाजिक अभ्यास अपनी पूरी तात्कालिकता और सम्पूर्णता के साथ एक उत्तेजक अनुभव में रूपांतरित हो जाते हैं, और स्त्री का अनुभव सिर्फ़ एक व्यक्ति का अनुभव नहीं रह जाता— वह सामाजिक संस्था के अनुभव में रूपांतरित होकर सार्वभौम हो जाता है। कही और अनकही स्त्री-अनुभव कथाएँ इसी प्रक्रिया में निजी से राजनीतिक हो जाती हैं। इसलिए स्त्री की अभिव्यक्ति को राजनीति से सम्बद्ध करके भी देखा जाता है। स्त्रीवादी विमर्शकार अनुभव की अभिव्यक्ति पर बराबर बल देती रही हैं। गायत्री चक्रवर्ती स्पिवॉक का कहना है— 'मेक विज़िबिल द एसाइनमेंट ऑफ़ सब्जेक्ट पोज़ीशंस'। वस्तुत: स्त्री के जीवन और अनुभव के विषय में लिखने के चार ढंग हैं : 'पहला तो यह कि स्त्री स्वयं अपने बारे में कहे— इसके लिए वह 'फ़िक्शन' या चाहे तो आत्मकथा का सहारा ले सकती है। दूसरा ढंग यह है कि पुरुष या स्त्री दूसरे के जीवन और अनुभवों के बारे में लिखे। तीसरा तरीक़ा यह है कि स्त्री अब तक जिए जा चुके जीवन से प्राप्त अनुभव और आने वाले जीवन के बारे में पूर्वानुमान करके लिखे। विदुषी और प्रतिभाशाली स्त्रियाँ अनजाने में ही अपनी भविष्य-कथाएँ लिख जाती हैं। चौथा ढंग, जिसे हाल के वर्षों में स्त्रियों ने अपनाया है— वह यह कि स्त्रियाँ अपने अतीत के बारे में ज़्यादा 'बोल्ड' और ईमानदार तरीक़े से लिख कर, सत्ता और राजनीति की नियंत्रणकारी ताक़तों से टकराएँ, चूँकि शक्ति और सत्ता को हमेशा से स्त्रियों के लिए वर्जित माना गया या यूँ कहें कि इतिहास में कभी भी स्त्रियों को समाज की नियंत्रक शक्ति के रूप में नहीं पहचाना गया। पितृसत्तात्मक शक्तियों ने स्त्री को हमेशा यही समझाया कि यह उसके लिए 'वर्जित क्षेत्र' है। साथ ही यह भी, कि वे स्वयं समाज-नियंत्रक नहीं बनना चाहतीं उन्हें हमेशा अभिव्यक्ति से रोका गया; टेक्स्ट, कथानक, उदाहरण का अंग बनाने से बचा गया— क्योंकि भय था कि इसके द्वारा कहीं वे सत्ता-अधिग्रहण न कर लें, अपने जीवन के निर्णय स्वयं न लेने लगे।' समकालीन स्त्री विमर्शकारों ने आलोचकों द्वारा स्त्रीवाद की उपेक्षा के प्रश्न को रेखांकित

किया। उन्होंने बताया कि स्त्रियों के अनुभवों की अभिव्यक्ति ज़्यादा बेहतर और पारदर्शी होती है।

स्त्री का बोलना अपने-आप में प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करता है। डेनिस रिले का मानना है कि यद्यपि स्त्री अधिकारों की लड़ाई उसे राजनीति की ओर ले जाती है, लेकिन स्त्रीवाद कभी भी अनुभवों की अपरिहार्यता समाप्त नहीं कर सकता। समाज में, जो हमें दिखाई देता है, वही सच नहीं होता। मसलन हम विभिन्न सामाजिक अस्मिताओं के संदर्भ में स्त्री-अस्मिता को देखें। स्त्री-अभिव्यक्ति 'अस्मिता' को पाने की ही कोशिश है। यह अस्मिता विभिन्न अस्मिताओं के पारम्परिक संघनन की प्रक्रिया से गुज़रती है। उनकी जटिल संरचना के भीतर से अन्य अस्मिताओं को पीछे कर अपनी सम्पूर्ण ताक़त के साथ उभरती है। किसी-किसी समाज और दौर में दबा भी दी जाती है। कहीं-कहीं उपेक्षा और प्रतिरोध झेलती है। इस प्रक्रिया में कोई अस्मिता अपना विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करती है। इस नज़रिये से देखने पर मुसलमान आत्मकथाकारों में पर्याप्त वैविध्य दीखता है। कहीं तो वे निजी जीवन को यौनिकता से ही जोड़ कर देखती हैं और समूचा आत्मकथ्य उनकी यौनिकता के इर्द-गिर्द ही घूमता है। कुछ पति या प्रेमी के साथ संबंधों की पुनर्व्याख्या करने को प्रगतिशीलता से जोड़कर देखती हैं। इसके उदाहरण स्वरूप तैयबजी वंश की स्त्रियों के आत्मकथ्य देखे जा सकते हैं। वहीं सुल्तानजहाँ बेगम जैसी भी हैं जिन्होंने अंतरंग संबंधों को परदे के भीतर ढके रहने में ही भलाई समझी— पर्दे और बुर्के के पक्ष में दलीलें दीं। कुछ ऐसी भी रहीं जिन्होंने अपने सामाजिक और राजनीतिक अनुभवों को साझा करने के लिए आत्मकथा की विधा अपनायी। कई औरतें ऐसी भी रहीं जिन्होंने बतौर स्त्री झेला तो बहुत कुछ, पर खुल कर कभी अभिव्यक्त नहीं कर पाईं— उन पर तरह-तरह की सेंसरशिप के दबाव रहे। कुछ ने उर्दू, बांग्ला, और क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा तो कुछ ने भाषिक माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी को अपनाया, क्योंकि उन्हें लगा कि देशी भाषाओं में अंतरंग प्रसंग और यौनिकता के मुद्दों पर लिखना सरल नहीं होगा और साथ ही वे वैश्विक पाठक वर्ग से वंचित भी रह जाएँगी। उर्दू में पहली गद्य लेखिका के तौर पर बीबी अशरफ़ का ज़िक्र आता है, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के मध्य में स्त्री-शिक्षा के रास्ते में आने वाली कठिनाइयों का ज़िक्र *हयात-ए अशरफ़* में किया। (बाद के शोध से यह साबित हो गया कि वास्तव में यह किताब बीबी अशरफ़ ने नहीं *तहज़ीब-ए-निस्वाँ* में लगातार छपने वाली मुहम्मदी बेगम ने लिखी थी। यह रिसाला 1898 से 1949 के बीच छपता था जिसके सम्पादक सैयद मुमताज़ अली थे। सी.एम. नईम ने *हयात-ए-अशरफ़* को 1900-1910 के बीच प्रकाशित माना)। बीबी अशरफ़ के इस आत्मकथ्य से स्पष्ट है कि लिखना-पढ़ना अभिजात स्त्रियाँ के लिए अपेक्षाकृत सहज था, नीचे तबक़ों और निर्धन स्त्रियाँ के लिए बहुत कठिन। बीबी अशरफ़ एक शरीफ़ घराने से सम्बद्ध थीं और विधवा होने के बाद आजीविका निर्वाह के लिए उन्होंने शिक्षण को पेशा बनाया। शौहर के मरने के बाद इद्दत के दिनों में उसने जब अपने पढ़ने की इच्छा को उजागर किया तो वयस्क, अनुभवी स्त्रियाँ ने उनकी निंदा की लेकिन वह मानी नहीं।

> मैंने रसोईघर से जली लकड़ियों के टुकड़े, घड़े के ढक्कन और झाड़ू की तीलियों की मदद से घर की छत पर जाकर, आराम के घंटों में लिखे हुए अक्षरों की नक़ल करना शुरू कर दिया। मेरी पढ़ने-लिखने की इच्छा ने मुझे अंधा कर दिया था। मैंने काग़ज़ पर काग़ज़ काले करना शुरू कर दिया, फिर भी मुझे समझ नहीं आता था कि मैं क्या लिख रही हूँ। मुझे इतनी समझ नहीं थी कि शिक्षक के अभाव में कोई पढ़ना-लिखना नहीं सीख सकता। मुझे लगता था कि जैसे अन्य कई गुण देखने और अनुकरण से सीख लिए जा सकते हैं, ठीक वैसे ही पढ़ना भी आ जाता होगा। लेकिन इस तरह बहुत सारा समय गँवाने के बाद भी मुझे कुछ नहीं आया। मेरी पुकार अल्लाह ने सुनी और मुझे अध्यापक मिला।[2]

बीबी अशरफ़ ने पढ़-लिख कर अपने परिवार की परवरिश की, शिक्षा ग्रहण करने में उन्होंने चाहे जितनी कठिनाइयों का सामना किया हो, इस्लाम के व्यावहारिक अनुशासन को उन्होंने कभी छोड़ा

[2] सी.एम. नईम (1987) : 107-108.

नहीं। शिक्षिका होकर भी पर्दे और बुर्के का नियमानुसार पालन करने के लिए अपने छात्रों के बीच उनकी तारीफ़ भी होती थी।

भारत में, 1920 के आसपास अभिजात्य घरानों की मुसलमान स्त्रियाँ अंग्रेज़ी पढ़ने की ओर उन्मुख हुईं।[3] शिक्षा के इस नये दौर ने पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ का एक ऐसा वर्ग बनाया जिसमें मुहम्मदी बेगम, नज़र सज्जाद हैदर, अब्बासी बेगम जैसी स्त्रियाँ को देखा जा सकता है जिन्होंने रिसालों में लिखना और छपना शुरू कर दिया था। इस्लाम में जीवनी और आत्मकथा लेखन की एक लम्बी परम्परा की परिधि पर जिस संस्मरण को देखा जा सकता है वह है आबिदा सुल्तान का, जो भोपाल की राजकुमारी थी। दाम्पत्य और सेक्शुअल थीम पर इतनी सच्ची अभिव्यक्ति अपने आप में विरल है। जहाँ आत्मविश्लेषण और निज की अभिव्यक्ति आत्मकथाओं का अनिवार्य तत्त्व है वहाँ इस्लाम धर्म को मानने वाले विशेषकर स्त्रियाँ निज की अभिव्यक्ति के लिए जिन चुनौतियों को झेलती हैं वे मानीख़ेज़ हैं। आबिदा सुल्तान ने *मेमॅअर्स ऑफ़ अ रिबेल प्रिंसेस* में अपने दाम्पत्य जीवन के बारे खुल कर लिखा। उनका विवाह बचपन के मित्र करवयी के नवाब सरवर अली ख़ान से हुआ था। विवाह की प्रथम रात के बारे में वे लिखती हैं :

> विवाह के तुरंत बाद मुझे दाम्पत्य जीवन का पहला आघात लगा। मुझे अंदाज़ा नहीं था कि प्रथम सहवास ही मुझे सन्न करने और डराने वाला होगा। इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। सच तो यह था कि मुझे उस व्यक्ति से आघात मिला था जिससे मुझे इसकी बिल्कुल भी उम्मीद नहीं थी। हमारा पालन-पोषण धार्मिक और रूढ़िवादी पवित्र वातावरण में होने के कारण मेरे मन में वैवाहिक संबंध, विशेषकर सहवास के प्रति एक अपवित्रता का भाव था। लगता था यह कार्य अश्लील है। दाम्पत्य सेक्स के प्रति मेरी घृणास्पद प्रतिक्रिया पति को कुंठित कर देने वाली साबित हुई। वे जल्दी ही मेरे प्रति अपनी कड़वाहट और असंवेदनशीलता दिखाने लगे और वह सब करने लगे जो मुझे एक मनुष्य में सबसे ज़्यादा नापसंद था। वे काहिल, आलसी और बदमिज़ाज हो गये, घरेलू नौकरों के साथ जुआ खेल कर अपना बेकार-ख़ाली समय बिताने लगे। जल्द ही हमारे शयनकक्ष अलग-अलग हो गये। कुछ ही अरसे में हमारा विवाह मात्र काग़ज़ी और सामाजिक दिखावे के लिए रह गया।[4]

इन्हीं आबिदा सुल्तान की दादी भोपाल की बेगम सुल्तानजहाँ की आत्मकथा तीन भागों में उर्दू और अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई जो औपनिवेशिक सत्ता, राष्ट्रवादी विचारधारा के उदय और सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलनों के समानांतर और परस्पर एक-दूसरे को काटती हुई धाराओं से टकराती दीखती है। पोती आबिदा सुल्तान उन्हें 'सरकार अम्मान' कह कर सम्बोधित करती हैं, 'वे पवित्र, तापसी प्रवृत्ति की और उदारमना, मितव्ययी थीं। भोपाल के हिंदू, मुसलमान, ज़मींदार और किसान उन्हें पसंद करते थे। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वे सत्ता में थीं, बल्कि इसलिए भी कि वे उनके लिए मातृस्वरूपा थी।'[5] सुल्तानजहाँ बेगम 1901-1926 के बीच भोपाल रियासत की सुल्तान रहीं। हाल के वर्षों में इस बात पर ग़ौर किया गया कि सुल्तानजहाँ जैसी स्त्री राजनीतिज्ञों की पूरे इतिहास में उपेक्षा की गयी, जबकि वे लगातार स्त्री-सुधार कार्यक्रमों से जुड़ी रहीं। पर्दा, इस्लाम, दाम्पत्य पर उनके विचार हमें जानने को मिलते हैं तो वह भी उनके शासनकाल के ख़त्म होने के 75 वर्षों बाद। भोपाल रियासत में आधुनिक विचारों का प्रचलन उनकी उपलब्धि रही। उन्होंने स्थानीय शासन और औपनिवेशिक सरकार के बीच सेतु का काम किया। *एन अकाउंट ऑफ़ माइ लाइफ़* (खण्ड-1, 2, 3) के तीनों भाग 1910 में उर्दू में प्रकाशित हुए, जिनका अंग्रेज़ी तर्जुमा 1920 में काफ़ी लोकप्रिय

[3] आयशा जलाल (1991) : 77.
[4] आबिदा सुल्तान (2004) : 98.
[5] वही : 9.

हुआ और जिसे स्त्री-सुधारों पर लिखी पुस्तक *अल हिजाब : आर व्हाय द पर्दा इज़ नेससेरी* को साथ पढ़ा जाना चाहिए। भोपाल में ब्रिटिश सरकार ने ट्रेन, स्कूल, संचार पर अच्छा धन ख़र्च किया था। सुल्तानजहाँ बेगम ने हुक्मरानों के साथ बहुत ही अच्छे संबंध रखे। वे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की तारीफ़ करती हैं— वहीं उन्हें इस बात का भी एहसास है कि ब्रिटिश सरकार कभी भी हमारी नस्ल की धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरी तरह समझ नहीं सकती। लेकिन वे कहीं भी दावा नहीं करतीं कि वे आम पाठकों के लिए पुस्तक लिख रही हैं।[6]

'मुझे अंदाज़ा नहीं था कि प्रथम सहवास ही मुझे सन्न करने और डराने वाला होगा। ... हमारा पालन-पोषण धार्मिक और रूढ़िवादी पवित्र वातावरण में होने के कारण मेरे मन में वैवाहिक संबंध, विशेषकर सहवास के प्रति एक अपवित्रता का भाव था। लगता था यह कार्य अश्लील है। दाम्पत्य सेक्स के प्रति मेरी घृणास्पद प्रतिक्रिया पति को कुंठित कर देने वाली साबित हुई। वे जल्दी ही मेरे प्रति अपनी कड़वाहट और असंवेदनशीलता दिखाने लगे और वह सब करने लगे जो मुझे एक मनुष्य में सबसे ज़्यादा नापसंद था।'

लेकिन उन्होंने जिस तरह से अपनी यात्राओं, इस्लामिक रीति-रिवाजों, शासन-नीतियों के बारे में लिखा है उससे पता चलता है कि उनके सम्भावित पाठक विदेशी और ग़ैर-इस्लामिक थे। वे उसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी करवा रही थीं और इस तरह अपने आपको 'एजेंसी' के रूप में स्थापित भी कर रही थीं। आत्मकथा उनके लिए पश्चिम को भारत और इस्लाम के रीति रिवाजों की जानकारी देने का माध्यम थी। ब्रिटिश राज के प्रति उनकी वफ़ादारी का ज़िक्र बार-बार आया है, ऐसा इसलिए भी होगा कि स्त्री की नेतृत्वकारी भूमिका को ब्रिटिश राज ने स्वीकारा इस कृतज्ञता ज्ञापन के लिए वे आत्मकथ्य का सहारा लेती हैं। यह बात दूसरी है कि ब्रिटिश राज को सुल्तानजहाँ जैसे रियासतदार साम्राज्यवादी एजेंडे के अनुकूल लगते थे। वे आकाओं के साथ सीधे सम्पर्क स्थापित करती हैं और इस तरह स्त्री-शासिका होने के नाते अपनी 'एजेंसी' को सुदृढ़ भी। वे लगातार पश्चिम के आलोक में भारत को देखती हैं, मसलन घरेलू जीवन के बारे में उनकी टिप्पणी है, 'दाम्पत्य जीवन का उद्देश्य है पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे को जीवन का आनंद दें। लेकिन पश्चिम में यह अपवाद स्वरूप ही पाया जाता है, जबकि भारत में यह सहज-स्वाभाविक है।' सुल्तानजहाँ जिस आदर्श दाम्पत्य की बात कर रही हैं, वह अपवाद ही है। परिवार की धुरी स्त्री को मानते हुए उनका स्वर आत्मकथ्य में उपदेशात्मक है, उनका मानना है कि जिस औरत ने पश्चिमी चाल-चलन सीखा उसका घरेलू जीवन नष्ट हो गया। वे जिस आधुनिकता की बात करती हैं उसमें स्त्री की यौनेच्छा का कहीं ज़िक्र नहीं है। उसमें स्त्री की भौतिक स्वतंत्रता की बात है मानसिक स्वतंत्रता की नहीं। वे ब्रिटिश राज की प्रशंसक हैं और भौतिक उपलब्धियों के संदर्भ में पश्चिमी सभ्यता की तारीफ़ करती हैं। पोती आबिदा सुल्तान ने भी सुल्तानजहाँ द्वारा ब्रिटिश राज के निरंतर समर्थन किये जाने की तस्दीक़ कीं। *अल हिजाब* में मुसलमान स्त्रियाँ को पर्दे और हिजाब में रहने की नसीहत देते हुए नवजागरण के अन्य समाज-सुधारकों से अपने-आपको पर्दे के मसले पर अलगाने की कोशिश की गयी। साथ ही पाश्चात्य सभ्यता की तुलना में उन्होंने इस्लामिक रीति-रिवाजों को प्रस्थापित किया।

यह ग़ौर करने की बात है कि भोपाल रियासत की अधिकतर शासिकाओं ने आत्मकथा लिखीं। आत्माभिव्यक्ति के लिए इन अभिजात स्त्रियों ने कई विधाएँ अपनायीं। इनमें से शाहजहाँ बेगम (1838-

[6] जे.मूर्रे (1912).

सुल्तानजहाँ जिस आदर्श दाम्पत्य की बात कर रही हैं, वह अपवाद ही है। परिवार की धुरी स्त्री को मानते हुए उनका स्वर आत्मकथ्य में उपदेशात्मक है। उनका मानना है कि जिस औरत ने पश्चिमी चाल-चलन सीखा उसका घरेलू जीवन नष्ट हो गया। वे जिस आधुनिकता की बात करती हैं उसमें स्त्री की यौनेच्छा का कहीं ज़िक्र नहीं है।

1901) ने स्त्रियों को आचरण सिख़ाने के लिए *तहज़ीब-उन निस्वान वा तरबीयत उल इंसान* (1889) लिखी जिसमें स्त्री-यौनिकता को महत्त्व देते हुए सेक्स में स्त्री की इच्छा की संतुष्टि की पक्षधरता करने के क्रम में स्वयं की नज़ीर पेश की। शाहजहाँ बेगम ने लिखा कि उनके पहले पति मुहम्मद ख़ान उम्र में काफ़ी बड़े थे इसलिए शाहजहाँ बेगम को युवावस्था में 'रंज-ओ-ग़म' ही मिले। पति की मृत्यु के बाद उनके निजी सचिव सिद्दीक़ हसन ख़ान से उन्होंने 1871 में पुनर्विवाह किया— तब उन्हें यौनतृप्ति और सुखी जीवन का अनुभव हुआ। इन प्रसंगों की चर्चा बेगम ने अपनी पुस्तक में विस्तार से की, जिसका 'टेक्स्ट' अपने आप में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे स्त्रियों को सलाह देती हैं कि 'संतानोत्पत्ति और गर्भ पर अपना नियंत्रण करके कैसे अपने जीवन पर नियंत्रण कर सकती हैं, यानी अपनी इच्छानुसार कैसे जीवन जी सकती हैं; इसके साथ ही वह इस्लाम को मानने की सलाह भी देती हैं।'[7] शाहजहाँ बेगम के विचार अपने समय से बहुत आगे हैं। साथ ही आश्चर्य में डालने वाले भी हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी इच्छा से दूसरे विवाह में उस व्यक्ति को पति के रूप में चुना था जो अल-ई-हदीस जैसे सुधारवादी मुसलमान संगठन से सम्बद्ध था और कट्टर एवं उग्र विचारों के लिए जाना जाता था।

शाहजहाँ बेगम की बेटी सुल्तानजहाँ बेगम (1868-1930) भोपाल रियासत की अंतिम शासक थी जिसने तीन भागों में आत्मकथा लिखी, जिसका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका हैं। इस आत्मकथा में स्त्रियों द्वारा यौनेच्छा की प्रकट अभिव्यक्ति की कड़ी आलोचना करते हुए पश्चिमी आलोचकों का मुसलमान स्त्रियों के निजी जीवन में दख़ल देना शर्मनाक बताया गया।[8] कई साल पहले जहाँ माँ ने स्त्री यौनिकता पर खुल कर बोलने के ख़तरे उठाए थे, वहीं बेटी सुल्तानजहाँ बेगम ने अपने दाम्पत्य और स्त्री यौनिकता के बारे में कुछ लिखना उचित नहीं समझा। माँ-बेटी के आत्मकथा लेखन में लगभग दो दशकों का अंतराल है लेकिन बेटी यानि सुल्तानजहाँ बेगम अंतरंग संबंधों को परदे की चीज़ मानती हैं और 1902 में पति अहमद अली ख़ान की मृत्यु के समय करुण समर्पण लिखती हैं :

> मेरी कलम भले ही 'दु:ख' शब्द लिख ले और ज़ुबान भी यह कह दे पर मेरी भावनाओं की गहराई की अभिव्यक्ति के लिए कोई शब्द पर्याप्त नहीं है— कोई शब्द ऐसा नहीं है, जो मेरा दु:ख पूरी गहराई से अभिव्यक्त कर सके, आँख के तारे का चला जाना, जो मेरा सबसे गहरा मित्र था पिछले 27 वर्षों से जिसने मुझे स्नेह और उपदेश दिये, मुझे चिंताओं और मुश्किलों से उबरने में मदद की। उनकी सहानुभूति और प्रेम हमेशा मेरे लिए मददगार साबित हुए हैं— वास्तव में यह एक गहन और दृढ़ संबंध था। जीवन के इस मोड़ पर उसे खो देना वैसा ही है, जैसा मुसीबतों के समुद्र में अकेले डूबना-उतराना। जब मुझे उसके चतुर सुझावों की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी— ऐसे में उसका चला जाना एक असहनीय आपदा है।[9]

क़ुरान में आदर्श विवाह और आदर्श दम्पती के बारे में जो कहा गया है, यहाँ उन आदर्शों का पूरी तरह पालन दीखता है।

---

[7] शाहजहाँ बेगम (1889).

[8] सुल्तानजहाँ बेगम (1922) : 148.

[9] नवाब सुल्तानजहाँ बेगम (1922) : 36-37.

क्या भोपाल-रियासत की सांस्कृतिक विरासत में ही ऐसा कुछ था जो इन स्त्रियों को अपने जीवन के बारे में बयान करने की प्रेरणा देता था? वे थीं रियासत की स्त्रियाँ, लेकिन सामान्य स्त्रियों का क्या— क्या वे भी आत्मभिव्यक्ति की इच्छा को परिणति तक पहुँचा पायीं। इसके बरअक्स अतिया फ़ैज़ी (1877-1967) और नाज़िल फ़ैज़ी (1874-1938) के आत्मकथात्मक यात्रा-संस्मरणों को देखा जा सकता है। 1906 से 1908 के बीच उन्होंने युरोप की यात्राएँ कीं और संस्मरण लिखे। अतिया फ़ैज़ी उर्दू के महाकवि इक़बाल की मित्र थीं।[10] अतिया फ़ैज़ी की डायरी के कुछ हिस्सों का प्रकाशन *तहज़ीब-उन-निस्वाँ* में हुआ, जो बाद में पुस्तक रूप में भी सामने आयी। हालाँकि 1907 में अतिया इक़बाल से मिली थीं, मगर पूरी डायरी में इक़बाल का ज़िक्र सिर्फ़ दो बार आया है। दोनों बार अतिया ने उन्हें, विद्वान, दार्शनिक और कवि के रूप में याद किया है। उनके बीच कोई अंतरंग सम्पर्क था, इसकी तरफ़ कोई संकेत नहीं मिलता। जबकि सामान्य तौर पर कई अन्य ने उनको आत्मीय मित्रों के रूप में देखा था। अतिया ने बाद में *इक़बाल* (1947) शीर्षक से पत्रों का संग्रह भी छपवाया। लंदन में उनकी निजी मुलाक़ातों के ब्योरे इस पुस्तक में मिलते हैं। इन पत्रों में यह उल्लेख है कि इक़बाल से अतिया फ़ैज़ी की मुलाक़ातें सभाओं, रात्रि-भोजों और पिकनिक के दौरान हुआ करती थीं। अतिया ने इक़बाल के दिवंगत हो जाने के बाद ही पत्रों का संकलन छपवाने का साहस किया। वैसे भी तब तक उनकी उम्र काफ़ी हो चली थी। इस पुस्तक में वे इक़बाल से साथ अपने संबंधों को गुरु-शिष्यवत् बता कर संवेदनात्मक संतुलन का परिचय देती हैं।[11] पुरुष के साथ मैत्री भाव को छुपाकर रखना उनके मानसिक अनुकूलन को बताता है कि जब वे पश्चिम में थीं तो उन्हें कवि इक़बाल से आत्मीयता में कोई परहेज़ न था लेकिन देश-काल के बदलते ही स्त्री कैसे अपनी अभिव्यक्ति को सेंसर कर डालती है, अतिया का लेखन इसका दिलचस्प उदाहरण है।

नाज़िल फ़ैज़ी ने बहन के नक़्शे-क़दम पर चलते हुए अपने संस्मरण शाया किये, लेकिन वे अतिया की अपेक्षा खुलकर स्त्री यौनिकता के मुद्दे पर बोलती हैं। उसने पति इब्राहीम ख़ान के साथ गुज़रे पलों के बारे में लिखा। दिलचस्प है कि नाज़िल फ़ैज़ी का विवाह 12 वर्ष की उम्र में 1886 में हुआ, लेकिन संतान उत्पन्न न हो पाने के कारण 1913 में तब तलाक़ हुआ जब उनकी उम्र 39 की थी, यानी तब जब कोई स्त्री यौन-आकर्षण की उम्र पार कर रही होती है, ठीक उसी समय नवाब ने दूसरी स्त्री के साथ रहना चुन लिया। नाज़िल फ़ैज़ी ने युरोप की यात्रा के बारे में *सैर-ए-युरोप* में लिखा। जो सतही तौर पर भले यात्रा-संस्मरण हो पर उसमें संतानहीन स्त्री, जो पति की उपेक्षा और तलाक़ का शिकार है, की पीड़ा के दस्तावेज़ छिपे हुए हैं।[12] इस संस्मरण में पति और बहन अतिया के साथ जलमार्ग से ब्रिटेन और इस्ताम्बूल तक की गयी यात्राएँ हैं। इस वृत्तांत में नाज़िल के अंतरंग जीवन और निजी हताशा के संकेत हैं। ऐसा लगता है कि वह अपने निजी जीवन, परेशानियों, पति की बेरुखी के बारे में बोलना चाह कर भी बोल नहीं पा रही हैं। उसके लिखे हुए की दरारों को पढ़ना पाठक का काम है। बाद में चल कर उसके बहनोई सैमुअल फ़ैज़ी राहामिन के लिखे उपन्यास के केंद्रीय चरित्र के रूप में किसी नवाब की पत्नी का चरित्र आया, जिसका जीवन उपेक्षित और एकाकी है— जो सम्भवतः नाज़िल के जीवन की ही झलक है।[13]

अतिया और नाज़िल दोनों बहनों में समानता थी कि दोनों ने कथेतर विधाओं को रचनात्मकता के माध्यम के रूप में चुना, लेकिन निजी प्रसंगों पर खुल कर बोलना दोनों ने गवारा नहीं किया। इसके पीछे सामाजिक और निजी स्तर की सेंसरशिप को देखा जा सकता है। इन दोनों ने जिनका

[10] सईद नक़वी (1911).
[11] शिवभान लैम्बार्ट-हर्ले और सुनील शर्मा (2010) : 2.
[12] नाज़िल राफ़िया सुलतान नवाब बेगम साहिबा (1908).
[13] सैमुअल फ़ैज़ी राहामिन (1938) : 222.

पूरी डायरी में इक़बाल का ज़िक्र सिर्फ़ दो बार आया है। ... पुरुष के साथ मैत्री भाव को छुपाकर रखना उनके मानसिक अनुकूलन को बताता है कि जब वे पश्चिम में थीं तो उन्हें कवि इक़बाल से आत्मीयता में कोई परहेज़ न था लेकिन देश-काल के बदलते ही स्त्री कैसे अपनी अभिव्यक्ति को सेंसर कर डालती है, अतिया का लेखन इसका दिलचस्प उदाहरण है।

उल्लेख किया उनसे अपने संबंधों की गहराई को छुपा ले जाने के पीछे पारिवारिक संबंधों के समीकरण गड़बड़ाने का भय ज़रूर था। मुहम्मद इक़बाल से अतिया का पत्राचार लगभग 1911 तक चला। इतनी लम्बी अवधि में आत्मीय सम्पर्क का स्थापित न होना ही अस्वाभाविक होता। नाज़िल और अतिया दोनों ने बोलचाल की साधारण उर्दू का प्रयोग किया। दोनों बहनों की पुस्तकों में उस समय चल रहे समाज-सुधार के एजेंडे का ज़िक्र मिलता है। अतिया ने अपनी पुस्तक में 'तहज़ीबी बहनों' (*ज़माना* की भूमिका) को सम्बोधित किया। नाज़िल ने भी 'हिंदुस्तानी भाई-बहनों को सोचने पर मजबूर करने' को *सैर-ए-युरोप* पुस्तक का उद्देश्य बताया। दोनों पर बदरुद्दीन तैयबजी का ज़बर्दस्त प्रभाव था और वे चाहती थीं कि युरोप और अरब के अनुभव और नज़ीरें हिंदुस्तानियों के पिछड़ेपन को दूर भगाने के काम आ सकें। मुसलमान आभिजात्य वर्ग से सम्बद्ध ये दोनों बहनें भारत में जनता के सामने खुल कर बोलने वाली पहली स्त्रियाँ थीं। लेकिन इनका लेखन इस ओर इशारा करता है कि सामाजिक-सांस्कृतिक और समुदायगत संरचना कहीं-न-कहीं अभिव्यक्ति के लिए विधागत चुनाव को नियंत्रित करने वाला कारक है। अतिया और नाज़िल की पुस्तकों को आत्मकथा नहीं कहा जा सकता लेकिन इनके लेखन में पत्र, डायरी शैली और बौद्धिक गद्य का सम्मिश्रित रूप दिखाई पड़ता है। स्वानुभूत जीवन के बारे में संकेतों में बात करना कहीं न कहीं जीवन में परिवर्तनकामी शक्तियों की आहट की द्योतक है।

■■■

पाकिस्तान बनने के बाद जो स्त्रियाँ आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में रचनारत रहीं, उन पर कई दृष्टियों से विचार हो सकता है— एक तो कि देशविभाजन की घटना के बदले सांस्कृतिक संदर्भ और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इनका नज़रिया क्या था, साथ ही इस्लामीकरण के आग्रह की पृष्ठभूमि में जेंडर के मुद्दों पर इन स्त्रियों के जुड़ाव के आयाम क्या थे? क़ुर्अतुल ऐन हैदर (*कारे ज़हाँ दराज़ है*), हमीदा अख़्तर हुसैन रायपुरी (*हमसफ़र*), निसार अज़ीज़ बट (*गये दिनों की सरगाह*) की कड़ी में बेगम शाइस्ता सुहरावर्दी इकरमुल्लाह (1915-2000) की आत्मकथा *फ़्रॉम पर्दा टू पार्लियामेंट*[14] को देखा जाना चाहिए जिसमें उन्होंने पाकिस्तान-आंदोलन के विस्तृत ब्योरे दिये। जहाँ हिंदी क्षेत्र में स्त्रियों की राजनीतिक आत्मकथाओं की उपस्थिति विरल है, वहीं शाइस्ता बेगम ने पाकिस्तान की विधानसभा के सदस्य के रूप में अपने कार्यक्षेत्र के बारे में पाठकों को बताया। शाइस्ता बेगम ने आत्मकथ्य में सगे-संबंधियों का ज़िक्र प्रसंगवश तो किया है, लेकिन निजी जीवन के अंतरंग क्षणों के परिचय से उनका पाठक वंचित रह जाता है। यद्यपि दो अध्यायों में वे वैवाहिक और राजनीतिक जीवन में संतुलन बनाए

[14] शाइस्ता सुहरावर्दी (1998).

रखने की कोशिशों का उल्लेख करती हैं, जिससे पाठक को यह अंदाज़ा हो जाता है कि अभिजात स्त्री के लिए भी राजनीति में क़ैरियर बनाना तब भी आसान नहीं रहा होगा।

बेगम शाइस्ता आत्मकथा के छठे और सातवें अध्यायों में ससुराल पक्ष के रीति रिवाजों, भोजन-वस्त्र, संबंधियों का ज़िक्र करती हैं पर कहीं भी अपने पति का नाम तक नहीं लेतीं। वैवाहिक जीवन की प्रथम रात्रि के बारे में उनकी टिप्पणी है— 'हमारे समाज में विवाह के बाद किसी लड़की के जीवन में सबसे बड़ा जो परिवर्तन आता है वह यह है कि उसे पूरी तरह अपने आप को नये परिवार के अनुरूप ढालना पड़ता है'।[15] अन्य कई मुसलमान स्त्रियों ने अंग्रेज़ी में अपने सार्वजनिक जीवन के विषय में टिप्पणियाँ कीं, लेकिन अकसर ये स्त्रियाँ अपने आत्मीय संबंधों के बारे में खुल कर बोलने का साहस नहीं जुटा पायीं। इस कड़ी में बड़ी बहादुरी के साथ बुर्का त्याग देने वाली जहाँआरा हबीबुल्लाह (1915-2001) की पुस्तक *रिमेम्बरेंस ऑफ़ डेज़ पास्ट* को देखा जा सकता है जो बेगम शाइस्ता के आत्मकथ्य की तर्ज़ पर ही लिखी गयी है। रामपुर स्टेट के दिनों में उनके वालिद मुख्यमंत्री थे और बहनोई स्टेट के नवाब। वहाँ के बारे में याद करते हुए भी आत्मीय प्रसंगों की चर्चा से बचीं सिवाय उस अध्याय के जिसमें उन्होंने पाकिस्तान तम्बाकू कम्पनी के मैनेजिंग डायरेक्टर ईशत हबीबुल्लाह के साथ अपने वैवाहिक प्रसंग को लिखा, लेकिन वहाँ भी अधिकांश बातें उनकी संतानों के इर्द-गिर्द ही घूमती हैं।[16]

हमीदा सैय्यादुज्ज़ाफ़र (1921-1988) जहाँआरा हबीबुल्लाह की चचेरी बहन थी, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नेत्र-चिकित्सा विभाग में चिकित्सक और निदेशक बनने के बारे में उसने आत्मकथ्य में लिखा। पूरी आत्मकथा में कहीं भी उसके अविवाहित रह जाने, एकाकी जीवन के कष्टों के बारे में ज़िक्र नहीं है। इसकी बजाय सैयद अहमद ख़ाँ के समाज सुधार के एजेंडे और उनकी तारीफ़ में कई पन्ने लिखे गये हैं।[17]

ऊपर जिन आत्मकथाओं का ज़िक्र किया गया है उनकी रचनाकारों में से अधिकांश 1930 के पहले पैदा हुईं थीं। ये सभी अभिजन परिवारों से सम्बद्ध थीं और सैयद अहमद ख़ान के आधुनिक राष्ट्र-राज्य में स्त्री की बदली हुई भूमिका के आदर्श से परिचालित थीं। रशीद जहाँ (1905-1952) सरीखी प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ी और प्रेरित स्त्रियाँ जब लेखन के क्षेत्र में आयीं तो उन्होंने आधुनिकता के पक्ष में एक विमर्श करना शुरू किया। समतावादी विचारधारा और रूढ़ियों के बहिष्कार की हवा चली, इसके परिणामस्वरूप 'हलाक़-ए अरबाब-ए ज़ौक़' (1939) जैसी संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं। इनसे जुड़ी स्त्रियाँ ने घर के बाहर क़दम रख कर आधुनिक विचारों का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। जहाँ इससे पहले की पीढ़ी अपनी शिक्षा के लिए संघर्षरत रही थी, वहीं प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ी स्त्रियों ने शिक्षा को जनसुलभ बनाने, पर्दे का विरोध करने, स्त्री-स्वाधीनता के व्यावहारिक पक्षों पर बल दिया। रशीद जहाँ, इस्मत चुग़ताई, रज़िया सज्जाद ज़हीर और ख़दीजा मस्तूर ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये। इन स्त्रियों ने यह समझा कि आधुनिकता, स्त्री और मध्यवर्गीय मुसलमान स्त्री होने के क्या अर्थ हैं विशेषकर भारतीय मुसलमान स्त्री होकर बौद्धिक कैसे हुआ जा सकता है, और यह बौद्धिकता किस तरह समाज परिवर्तन का माध्यम बन सकती है।[18]

विभाजन की घटना ने स्त्री-पुरुष दोनों को प्रभावित किया। देश-विभाजन, पुनर्स्थापन, धर्म और साम्प्रदायिकता के आधार पर नागरिकों के विभाजन के सबके अपने पाठ थे। पाकिस्तान का बनना, भारत के विभाजन की घटना ने राजनीतिक परिदृश्य पर जो परिवर्तन उपस्थित किये उनका भारत में

[15] वही : 61.

[16] जहाँआरा हबीबुल्लाह (2001); मूल उर्दू में लिखित यह पुस्तक अंग्रेज़ी में पहले प्रकाशित हुई थी. उर्दू में *ज़िंदगी की यादें : रियासत रामपुर नवाब का दौर* जो कराची से 2003 में प्रकाशित हुई.

[17] हमीदा सैय्यादुज्ज़ाफ़र (1996).

[18] प्रियम्वदा गोपाल (2005) : 5.

रशीद जहाँ

रशीद जहाँ सरीखी प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ी और प्रेरित स्त्रियाँ जब लेखन के क्षेत्र में आयीं तो उन्होंने आधुनिकता के पक्ष में एक विमर्श करना शुरू किया। समतावादी विचारधारा और रूढ़ियों के बहिष्कार की हवा चली, इसके परिणामस्वरूप 'हलाक-ए अरबाब-ए ज़ौक़' जैसी संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं। इनसे जुड़ी स्त्रियों ने घर के बाहर क़दम रख कर आधुनिक विचारों का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया।

रह रही और पाकिस्तान जाकर बस गयी मुसलमान स्त्रियाँ पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस दौर में गद्य-लेखन विशेषकर आत्मकथा लेखन में अप्रत्याशित तेज़ी देखी गयी। सबके पास अपनी-अपनी चुनौतियाँ और संघर्ष थे। पाकिस्तान को आधुनिक बनाने के लिए उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधार आंदोलनों के प्रभावों को मन में ग्रहण किये हुए ये स्त्रियाँ लेखन में प्रवृत्त हुईं। शायद सुधारवाद का दबाव उनके अवचेतन पर इतना रहा होगा कि वे अपने निजी प्रसंगों पर बहुत खुलकर नहीं बोलतीं। वस्तुत: इन स्त्रियाँ का आत्मकथा विधा में लेखन राष्ट्र-आख्यान से स्वयं को जोड़ने और इतिहास की धारा में स्वयं को जीवंत ऐतिहासिक चरित्रों के रूप में पहचानवाए जाने की कोशिश के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके उदाहरण के तौर पर अदा जाफ़री की आत्मकथा *जो रही सो बेकरारी रही* को देखा जाना चाहिए। बदरुद्दीन तैयबजी के परिवार से सम्बद्ध रेहाना तैयबजी (1901-1975) ने आत्मकथा *द हार्ट ऑफ़ अ गोपी* लिखी थी, जिसमें महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आंदोलन का अनुकरण करने और अपने ऊपर गाँधी के संश्लिष्ट प्रभाव का अंकन किया है। आत्मकथा में वह स्वयं को 'बापू' के ब्रह्मचारी सिपाहियों में से एक बताती हैं। वे सीधे-सीधे न सही पर परोक्ष रूप से गाँधी के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती हैं। वे स्वयं को कृष्ण की गोपिका कह कर ब्रह्मचर्य व्रत और दैहिक संसर्ग की इच्छा के बीच के अंतर्द्वंद्व और संघर्ष के बारे में लिखती हैं। गाँधी को लिखे पत्रों में भी वे इस अंतर्द्वंद्व और संघर्ष के बारे में खुलकर बयान करते हुए गोपी के रूप में स्वयं को तथा कृष्ण के रूप में सम्भवत: गाँधी को रख कर देखती है और भौतिक वास्तविकताओं से परे आध्यात्मिक मिलन का रूपक रचती हैं। लेकिन यह तय है कि रेहाना आत्मकथा विधा की अपरिमित सम्भावनाओं को जान नहीं पाईं, वरना यह किताब एक बोल्ड आत्मकथा हो सकती थी।

नवाब सिकंदर बेगम (1818-68) के यात्रा वृत्तांत *अ पिल्ग्रिमेज टू मक्का* (1870) में कुछ आत्मकथात्मक प्रसंग मिलते हैं, पर अंतरंगता का नितांत अभाव है। यह लिखा तो उर्दू में गया पर प्रकाशित हुआ सिर्फ़ अंग्रेज़ी में, वह भी बेगम की मृत्यु के बाद। वे उन रचनाकारों में से थीं, जिन्होंने खुल कर आत्माभिव्यक्ति का साहस नहीं दिखाया, लेकिन उपन्यास और कहानी के माध्यम से अपनी बात कही। उन्होंने प्रेम, विवाहपूर्व सेक्स, समलैंगिकता, स्त्री की यौनेच्छाओं जैसे मुद्दों पर बात की।

इनके अतिरिक्त जो स्त्रियाँ स्त्री-लैंगिकता, यौनेच्छा जैसे मुद्दों पर खुल कर लिख पाईं उनमें सलमा अहमद, किश्वर नाहीद को ज़रूर देखा जाना चाहिए। ये स्त्रियाँ सिर्फ़ जेंडर की बात नहीं करतीं, बल्कि धर्म-विशेषकर इस्लाम किस तरह स्त्री को 'मानुष' होने से रोकता है, इस पर टिप्पणी करती हैं। इन रचनाकारों में पर्दा-प्रथा का विरोध, बहुविवाह के साथ-साथ धर्म की ज़द में आने वाले ऐसे बहुत सारे रिवाज जो स्त्री-विरोधी हैं— की मुखर आलोचना मिलती है।

सलमा अहमद, जो पाकिस्तान की जानी मानी व्यवसायी थीं, उन्होंने अपनी दर्दनाक ज़िंदगी के बारे में लिखा।[19] वे अपने वैवाहिक जीवन की प्रथम रात्रि के बारे में लिखती हैं :

> सुहागकक्ष में मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। अब दूसरा नाटक, दूसरा दु:स्वप्न शुरू होने को था— -यह मैं नहीं थी जिसे वह छू रहा था, यह मैं नहीं थी जिसके वह कपड़े उतार रहा था। यह सब इतना अवास्तविक, इतना पीड़ादायक था, इतना झटका लगाने वाला था कि रजस्राव से चादर भीग गयी। तट के लग्ज़री होटल में यह एक डरावनी रात थी। रिवाज के अनुसार सुबह मेरे रिश्तेदार मुझे घर ले जाने के लिए आये। मैं क्षुब्ध थी और स्वयं को अपवित्र और चोटिल महसूस कर रही थी।[20]

इसी सलमा अहमद की बहन नजमा भोपाल की बेगम आबिदा सुल्तान की बहू बनी। सलमा की आत्मकथा में नजमा और शहरयार के विवाह की तस्वीर भी है। इस तरह सलमा अहमद का संबंध भोपाल की रियासत से ठहरता है, जो भारत की एकमात्र ऐसी रियासत थी जहाँ उन्नीसवीं और बीसवीं शती में स्त्री-शासक हुईं।

सईदा बानो अहमद की आत्मकथा *डगर से हट कर* (1990) में प्रकाशित हुई। जीवन के उत्तरार्ध में सईदा ने यह आत्मकथा अपने पुत्रों की इच्छा के विरुद्ध छपवाई, जिसे बाद में उर्दू अकादमी, दिल्ली से पुरस्कार भी मिला।[21] सईदा हसन आल इंडिया रेडियो की पहली स्त्री उद्घोषक थीं जो 1947 में अपने छोटे बेटे को लेकर लखनऊ से दिल्ली नौकरी करने आ गयीं।[22] सईदा ने अपने दाम्पत्य जीवन के विवादों और विवाह के टूटने का चित्रण खुलकर किया। यही कारण था कि लम्बा अरसा बीत जाने के बाद भी उनके बेटों ने आत्मकथा के छपने का विरोध किया। सईदा की आत्मकथा की तुलना आबिदा सुल्तान से भी की जा सकती है। वे दोनों अच्छी मित्र थीं और दोनों की परवरिश भोपाल में ही हुई थी। आश्चर्यजनक रूप से दोनों ने आत्मकथ्यों में बोल्डनेस दिखायी। आबिदा सुल्तान की आत्मकथा की चर्चा पहले की जा चुकी है। सईदा ने बताया कि उन्होंने विवाह के तुरंत बाद हमबिस्तर होने से इसलिए इनकार कर दिया क्योंकि उन्हें लगा कि पति नितांत अपरिचित हैं।[23] इस असुविधाजनक प्रसंग को लिख कर उन्होंने अपनी अल्पवयस और उस समय तक यौन-संबंधों के बारे में अनभिज्ञता प्रदर्शित की। सईदा बानो ने विवाहेतर संबंध की चर्चा बड़े साहस से की है। नूरुद्दीन नामक वकील जिसकी अंग्रेज़ पत्नी अपने बच्चों को लेकर भारत की आज़ादी के बाद इंग्लैंड चली गयी, उससे सईदा को प्रेम हुआ। नूरुद्दीन के अकेलेपन को सईदा की दोस्ती ने

इस्मत चुग़ताई

इस्मत की आत्मकथा की विशेषता है साफ़गोई और बिना लाग-लपेट के अपनी बात को कहने की कोशिश। वे अपने बचपन के दिनों से लेकर भाइयों के साथ पढ़ाई-लिखाई के अनुभवों के साथ यौनिकता के मुद्दों पर बड़े ही बेबाक अंदाज़ में बात करती हैं। वे धर्म, राजनीति, परदे के मुद्दों पर पिता, भाइयों, पुरुष रिश्तेदारों से बात करती हैं ताकि जान सकें कि आधी आबादी ... वह अंतरमहल की समस्याओं पर क्या सोच रखती है।

[19] सलमा अहमद (2002).
[20] वही : 26-27.
[21] सकीना हसन-सईदा की भतीजी से उसका साक्षात्कार, 13 फ़रवरी, 2006.
[22] आसिया आलम (2011).
[23] सईदा बानो अहमद (1990) : 38.

भर दिया। इन दोनों का प्रेम लगभग 27 वर्ष चला। शुरुआती हिचक के बाद सईदा ने प्रेम के सामने पूर्ण समर्पण कर दिया। इस प्रेम ने, सईदा के शब्दों में, 'सईदा का दिल ख़ुशियों से भर दिया था। 1955 में नूरुद्दीन की पत्नी दिल्ली लौट आयी। उन्हें इस प्रेम संबंध पर आपत्ति थी।[24] इस संबंध को लेकर सईदा बहुत संवेदनशील थी, क्योंकि इसने उन्हें ख़ुशी दी थी, इसलिए एक दिन अचानक सब ख़त्म करना उसके लिए सम्भव नहीं था। दूसरी बात यह थी कि इस संबंध की जानकारी मित्रों, बच्चों और रिश्तेदारों को थी, लेकिन सईदा के अनुसार 'मेरी जीवन-शैली की मर्यादा उन लोगों ने रखी, इस प्रेम संबंध के कारण मेरा अपमान कभी नहीं किया।' अतीत के प्रसंगों का ज़िक्र करते हुए सईदा लिखती है, 'आज जब पीछे मुड़कर देखती हूँ तो वह पूरा प्रसंग बचकाना लगता है, लेकिन ऐसा वक़्त भी था कि उसकी एक झलक, कुछ लम्हे के लिए मिलना ज़िंदगी और मौत का सवाल ... रात के राहियों की तरह बचपने का यह खेल हमने 60-65 और यहाँ तक कि 70 बरस की उम्र तक भी खेला। जिस काम की मनाही हो उसे करने में जोखिम का अद्‌भुत आनंद छिपा हुआ होता है।'[25] सईदा द्वारा अपने प्रेम संबंध की स्पष्ट स्वीकृति अपने आप में विशिष्ट है, जो उनकी आत्मकथा को प्रामाणिक बनाती है।

हमारा दौरे हयात शीर्षक से डॉ. जाकिरा गौस (1911-2003) ने आत्मकथा लिखी। पढ़ने की शौक़ीन जाकिरा ने सत्तर वर्ष की अवस्था में मद्रास विश्वविद्यालय से उर्दू में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। बचपन से ही डॉक्टर बनने का सपना देखने वाली जाकिरा को पारिवारिक परिस्थितियों ने गृहस्थिन बनाया। वे आत्मकथा में अपने बचपन के रचनात्मक दिनों को याद करती हैं। वे अपने एक बुज़ुर्ग द्वारा निकाली जाने वाली पत्रिका *बज़्म-ए-अदब* से प्रेरणा लेकर ख़ानदान के भीतर ही हस्तलिखित पत्रिका *मुशीर उन निस्वाँ* निकालने लगीं। इस घरेलू पत्रिका के पाठक ख़ानदान के भीतर के लोग ही थे पर इसमें भी अपने से बड़े-बुज़ुर्गों पर टिप्पणी करने से लोग बचते थे। 1956 तक यह हस्तलिखित पत्रिका नियमित रूप से निकलती रही। सेल्फ़ सेंसरशिप के संदर्भ में जाकिरा गौस ने इसे याद किया है, इसी के आधार पर 'माई लाइफ़' शीर्षक से आत्मकथा अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई, जिसे ख़ानदान के लोगों के लिए ही लिखा गया था, इसलिए बहुत से वर्णनों की ज़रूरत भी नहीं पड़ी। लेकिन वे यातनाप्रद बातों की चर्चा से बचीं, और यदि कहीं किसी के बारे में प्रसंगवश नकारात्मक टिप्पणी कर भी देती हैं तो तुरंत वहीं किसी सकारात्मक बात से संतुलन बना देती हैं। इसी तरह पूरी आत्मकथा में सावधानी दिखाई पड़ती है। वे विवादास्पद मुद्दों पर अपना पक्ष नहीं रखतीं और यदि कोई ऐसा मुद्दा आता भी है तो उनका बयान होता है— आपमें से कुछ इससे असहमत भी हो सकते हैं, उनसे अग्रिम क्षमायाचना के साथ।' आत्मकथा में वे दर्ज करती हैं :

> पत्रिका के पहले अंक में महरूम चचाजान ने ख़ानदान की कुछ मृतक औरतों के बारे में लिखा था, वर्णक्रम से। पाठकों को उनके बारे में कुछ लिखने को कहा गया था। मैंने नहीं लिखा, लेकिन उसके बाद से ही मेरे दिमाग़ में यह विचार आया कि हालाँकि मेरा जीवन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, कि उसे लोग जानें फिर भी मैं अपने बारे में ज़रूर कुछ लिखूँ। आरम्भ में तो किसी काग़ज़ पर मैं यूँ ही कुछ उलझी हुई बातें लिखा करती थी। मैं आपसे उसे पढ़ने के लिए नहीं कह सकती पर मैं इतना जानती हूँ कि आपमें से कुछ लोग तो उसे पढ़ने के लिए कहेंगे ही। यह मैं इसलिए कह रही हूँ कि मुझे मालूम है कि लोगों में दूसरे के निजी जीवन को जानने की इच्छा होती ही है ... वैसे अपने निज के बारे में लिखना मेरा अपना चुनाव है, यह ऐसा विषय है जिस पर मेरी क़लम बिना रुके दौड़ सकती है। मुझे मालूम है कि आत्मप्रशंसा करना एक कमी है फिर भी मुझे अनुमति दीजिए कि कहूँ कि जो कुछ मेरे जीवन में हुआ उसे लिखूँ अपने बारे में कुछ ख़ास लिखना मुझे कभी पसंद नहीं आया।

---

[24] वही : 186-190.

[25] वही : 226.

आत्मकथा में जाकिरा अतिशयोक्तियों का प्रयोग करती हैं। अपने पाठकों के पक्ष में वे अपनी आलोचना स्वयं करती चलती हैं। बार-बार कहती हैं कि उन्हें ठीक से लिखना भी नहीं आता। किसी आत्मप्रशंसक में अतिशय विनम्रता दिखाती हैं, जिसे फ़ारसी और उर्दू गद्य की परम्परा में भी देखा जा सकता है। यहाँ देखने की बात है आत्मकथ्य में आत्म के विलोपन का प्रयास, सिर्फ़ औपचारिकता मात्र नहीं है बल्कि इसके गहरे निहितार्थ हैं। वे चाहती हैं कि पारिवारिक सेंसरशिप उस पर हावी न हो, उसकी साहित्यिक गतिविधियाँ अपनी गति से चलती रहें। इसलिए वे अपने आपको बहुत ही नाचीज़ दिखाती हैं, सगे-संबंधियों पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं करतीं। पूरी आत्मकथा बहुत सावधानी से लिखी हुई है, हालाँकि इस कार्य में वे हर समय सफल नहीं हो पातीं। जाकिरा अपने जन्म के प्रसंग में लिखती हैं :

> रबी उल अव्वाल 1340, यानी 18 नवम्बर, 1921 को शुक्रवार के दिन हैदराबाद के हाजी मण्डजल में मैं पैदा हुई, मुझसे पहले पैदा हुई दो बहनें मर चुकी थीं ... मैं अब तक इस संसार में जी रही हूँ, इतनी लम्बी ज़िंदगी। कभी-कभी सोचती हूँ मेरा जीवन कितना निरर्थक है, अगर मैं भी अपनी बहनों की तरह पैदा होते ही मर जाती तो ... क्या हुआ होता? मेरे जैसे जीवन का क्या मूल्य है ... व्यर्थ और निरुद्देश्य।

जाकिरा गौस लिखती हैं कि उनके पिता बीए पास न कर पाने के कारण पक्की नौकरी से वंचित रहे, ख़ानदान के बाहर उन्होंने दूसरी शादी की, दूसरा घर भी बसाया, सभी पत्नियों से मिला कर उन्हें कई बच्चे हुए— जिनमें पाँच लड़कियों और एक लड़के ने ही पूर्ण जीवन जिया। जाकिरा की माँ ने बहुत अभावों में अपने बच्चों को पाला, इसलिए अपने बच्चों को बहुत विनम्रता और ख़ानदानी तहज़ीब सिखायी। उन्होंने सिखाया कि वे परनिर्भर हैं इसलिए उन्हें ऐसे रहना चाहिए जिससे परिवार के अन्य लोगों को कोई तकलीफ़ न हो। वे एक वाक़या याद करती हैं कि 'घर में कबाब बने थे— कुछ बच्चों ने जोश में आकर ज़्यादा कबाब खा लिए, जिससे बाक़ी लोगों के लिए कम बचा। जैसे ही मेरी माँ को यह पता चला उन्होंने बहुत कड़ाई के साथ ताक़ीद की कि भविष्य में दूसरों के बारे में बिना सोचे कभी भोजन करने का साहस न करूँ। यह बात आज भी मेरे जेहन में बैठी हुई है कि मैं दूसरों के हिस्से के बारे में बिना सोचे हुए कभी भी खा नहीं पाती ... और कभी असफल रहने पर मेरी आत्मा कचोटती है।' अपने पिता के बारे में वे लिखती है— 'हमें उनसे हमेशा डर लगता था ... हम उनसे काँपते थे और हमसे वे सीधे बात नहीं करते थे।' अपनी माँ के व्यक्तित्व के बारे में वह लिखती है कि माँ कभी अपना प्यार दिखाती नहीं थी, लेकिन मुझे मालूम था कि वे मुझे बहुत प्यार करती हैं।

आर्थिक तंगी वाले संयुक्त परिवार में जाकिरा के परिवार का सम्मानजनक ढंग से जीना सम्भव नहीं हो पा रहा था। ऐसे हालात में उसकी माँ कुण्ठित हो रही थी। फिर भी अपनी बेटियों के भविष्य और व्यक्तित्व के विकास के लिए चिंतित रहा करती थी। वे अपनी बेटियों के लिए दिनचर्या लिखा करतीं, जिसका पालन करना कठिन होता था। माँ अपने वात्सल्य को कभी जताती नहीं थी जिसके कारणों पर जाकिरा गौस की टिप्पणी है, 'बावजूद तमाम भावनाओं के माँ के मुख से मेरे लिए प्यार शब्द निकलना सम्भव नहीं था, लेकिन यह बात मुझे बड़े होने पर ही समझ आयी।' अपनी माँ के बहाने वह मुसलमान परिवारों में प्रचलित बहुविवाह, अशिक्षा के कारणों, पर्दा-प्रथा और लैंगिक विभेद को परखती चलती हैं।

घर की औरतों का बाहर जाना बहुत कम ही होता था। ख़रीदारी का काम घर के पुरुष या नौकर ही करते थे। घर की बुज़ुर्ग औरतें युवा बहू-बेटियों को घर के भीतर रहने की सलाह देती थीं, वे ख़ानदान की परम्परा के पालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। घर की औरतों को हैदराबाद और मद्रास आने-जाने का मौक़ा सिर्फ़ शादियों में मिलता था। यह वह समय था जब ख़ानदान की नयी पीढ़ी बाहर के समाज से जुड़ना चाह रही थी। औरतें मस्जिदों और तीर्थयात्रा के लिए भी जाती थीं लेकिन परदे में ही और किसी न किसी पुरुष की सरपरस्ती में। परदे का पूरा पालन किया जाता था। घर से निकलते समय

जनानख़ाने से दरवाज़े तक नौकरानी मोटे कपड़े का पर्दा पकड़ कर दोनों तरफ़ खड़ी हो जाती थीं। घर के आँगन से दरवाज़े पर खड़ी गाड़ी तक पर्दा कनात की तरह खड़ा किया जाता। रेल और जहाज़ में जनाना कम्पार्टमेंट होते। घर एक बंद संसार था, जहाँ औरतों की उपस्थिति स्थायी थी और पुरुषों का आना-जाना लगा रहता। पुरुष-आधिपत्य के बावजूद घरेलू मामलों में स्त्रियों के अपने निर्णय, विचार होते थे, छोटी लड़कियों को घर के भीतर ही औरतें इमला सिखा देतीं। कई माओं ने पुरुषों के विरोध के बावजूद अपने बच्चों को स्कूल भेजने की पेशकश की। 1931 में अपनी माँ की वजह से जाकिरा की एक चचेरी बहन ने स्कूल में दाख़िला ले लिया, जो ख़ानदान की एक बड़ी घटना थी। जाकिरा गौस आत्मकथा में अपने आत्मनिर्भर बनने की यात्रा का बयान करती हैं कि किस तरह वे चाँदनी रात में आँखें गड़ा कर किताबें पढ़ती थीं, किसी के आने की आहट सुनते ही किताब छुपा देती थीं। संयुक्त मुसलमान परिवार में उन्होंने बहुविवाह और उससे प्रभावित बच्चों और स्त्रियों को नज़दीक से देखा। पहली पत्नी की उपेक्षा, सीमित आय में बहुत से परिवारों का पालन, विवाह के कारण नये बच्चों की आमद से परिवार में कलह, आर्थिक तंगी, जगह की कमी इत्यादि के बारे में वे लिखती हैं :

> बहुपत्नीत्व का रिवाज हमारे ख़ानदान में कम ही था, इसे आम तौर पर पसंद भी नहीं किया जाता था। अकसर पहला विवाह परिवार जनों द्वारा तय किया जाता था, जबकि दूसरा विवाह उस व्यक्ति की निजी पसंद का होता था। अकसर दूसरा विवाह नीचे दर्जे की लड़की के साथ किया जाता था। इन औरतों से ख़ानदान की औरतें सामाजिक तौर पर कोई ख़ास संबंध नहीं रखती थीं। ऐसी औरतों के अस्तित्व की ओर से ख़ानदान बेख़बर रहने में भलाई समझता था। दूसरे-तीसरे विवाह वाली औरतों के रहने का अलग इंतज़ाम होता था। ऐसा बहुत कम होता था कि इन संबंधों से पैदा हुई संतानों का विवाह ख़ानदानी घरों में हो। जबतक पुरुष आर्थिक तौर पर दोनों परिवारों का बोझ उठाने में सक्षम होता था, स्थिति नियंत्रण में रहती थीं। लेकिन यदि कोई स्त्री या उसके बच्चे उपेक्षित महसूस करते थे तो ख़ानदान का कोई भी उनकी मदद को आगे नहीं आता था।

घर में एक ईसाई नर्स आती थी जो साफ़ सुथरे कपड़ों में स्मार्ट दीखती थी, परिवार के मर्द उसके औज़ारों / दवाई का बैग लेकर पीछे-पीछे चलते यह देखकर जाकिरा के मन में डॉक्टर बनने की इच्छा जगी। पिता ने बारह वर्ष की उम्र में उसे स्कूल जाने की इज़ाज़त दी और नामपल्ली स्कूल में दर्जा दो में बैठना शुरू किया। शादी के बाद उर्दू में स्नातक की उपाधि प्राइवेट पढ़ कर पास की, बाद में उन्होंने लड़कियों के कॉलेज में पढ़ाने की नौकरी मिली। पूरी आत्मकथा में अपनी जवानी के दौर का ज़िक्र वे ज्वालामुखी के फटने की तरह करती हैं। यह ज़िक्र भी है कि कैसे पति ने एमए करवाने से मना कर दिया, क्योंकि तब वह अपने पति से श्रेष्ठ हो जाती। जाकिरा *हमारा दौरे हयात* में लिखती हैं :

> अब मैं यह महसूस करती हूँ कि मेरे जीवन में जो कुछ भी हुआ अच्छे के लिए ही हुआ। मेरे लिए आर्ट्स पढ़ना बेहतर रहा। मैंने बहुत-सा साहित्य पढ़ा और लिखने की आदत ने मेरी दूसरी मानसिक चिंताओं को ख़त्म कर दिया। पहले लिखना मेरे लिए आवरण था बाद में लक्ष्य बन गया ... मैं आज जो कुछ भी हूँ लिखने के कारण ही हूँ। हमारे ख़ानदानों में किसी स्त्री का अविवाहित रह जाना बहुत ही अलग घटना होती थी, जिनका विवाह नहीं हो पाता वे अपने पिता या भाई के ऊपर निर्भर रहती थीं। 1920 से 1950 के दौर तक ऐसा होता था कि तीस पार से ऊपर की लड़कियों में लगभग 15 प्रतिशत की शादी होती ही नहीं थी, सुशिक्षित लड़कियों को भी अविवाहित रह जाना पड़ता था।

ऊपर से साधारण दीखने वाली आत्मकथा मुसलमान समाज के भीतर जेंडर के समीकरणों को गहरे तक रेखांकित करती है। अपने समकाल और भारत की बीसवीं सदी के पहले के सात दशकों का इतिहास इस पुस्तक में झलकता है। साथ ही परिवार और समाज द्वारा तयशुदा दायरे में कैसे एक स्त्री निज की पहचान को तलाशती है और बिना शोर-शराबे के अपनी पहचान स्थापित करती है, कोई जान भी नहीं पाता कि उसकी नामालूम-सी कहानी कहाँ शुरू और कहाँ ख़त्म हुई। आत्मकथा लेखन

को अपने तनाव और चिंतन-मनन की रचनात्मक 'शेयरिंग' से जोड़ा जा सकता है। हालाँकि एक स्त्री, देश-काल की सांस्कृतिक सीमाओं के परे, आत्मकथ्य लिखते या कहते समय निरंतर इस तनाव से जूझती है कि वह जीवन सत्य के किन पहलुओं को छोड़े और जोड़े। चारित्रिक दुर्बलता और फिसलन के प्रसंगों में से किन्हें लिखे और किन्हें छोड़े, सत्य और कल्पित प्रसंगों में से क्या रखें! स्त्री रचनाकार का वैश्विक नज़रिया, जीवन-मूल्य, संस्कार, भाषिक कौशल, राजनीतिक संदर्भ और उसके जीवन की नियंत्रक शक्तियाँ— इसको प्रभावित करती हैं, इसलिए रीता फेल्स्की को लगता है कि स्त्रियों की आत्मकथाओं में इच्छा और सत्य का तनाव, दिखाई देता है। उनका ईमानदार आत्म निरंतर सत्य के पक्ष में बोलने के लिए पर्युत्सुक रहता है जबकि बाहरी दबाव इस अभिव्यक्ति पर अंकुश लगाते हैं। आत्मकथाओं को कौन-सा पाठक पढ़ेगा, पाठकीय वर्ग और रुचि भी रचना को प्रभावित करती है। स्वांत: सुखाय का दावा करने वाले रचनाकार के अवचेतन में भी ज़्यादा से ज़्यादा पाठकों तक स्वयं को प्रसारित करने की लालसा सुप्त रहती है।

नवाब फ़ैज़ुन्निसा बेगम (1834-1903) ने *रूपजलाल* (1876) नामक उपन्यास अपने असफल वैवाहिक जीवन की पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए लिखा था। किसी भी बंगाली मुसलमान स्त्री द्वारा लिखे इस पहले उपन्यास की भूमिका आत्मकथात्मक है, जिसमें संक्षेप में मुसलमान स्त्री पर समाज के दबावों और उसकी यौनिकता पर मर्दवादी पहरों की पहचान की गयी है। इसमें औपनिवेशिक बंगाली मुसलमान स्त्री के जीवन के यथार्थ चित्र हैं। *रूपजलाल* जैसी रचना मुसलमान समाज में प्रचलित और इस्लाम से मान्यता प्राप्त बहुपत्नीत्व के ख़िलाफ़ आलोचनात्मक तर्क विकसित करती है। उपन्यास की नायिका रूपबानो अपने पति के बहुविवाह के प्रति कड़ा प्रतिरोध दर्ज कराती है, लेकिन अंतत: उसे परम्परा के आगे समर्पण करना पड़ता है। रूपबानो भले ही 'बहुपत्नीत्व' के सामने घुटने टेक देती है लेकिन नवाब फ़ैज़ुन्निसा ने निजी जीवन में पति के बहु-विवाह पर आपत्ति करते हुए अलग रहने का निर्णय लिया था। उपन्यास की भूमिका में इसका उल्लेख करते हुए विफल वैवाहिक जीवन की यंत्रणा को रचना की प्रेरणा बताया गया है। *रूपजलाल* का कथ्य प्रेम, युद्ध, बहुपत्नीत्व के दायरे में ही घूमता है। फ़ैज़ुन्निसा लेखन में तथाकथित स्त्रीत्व का अतिक्रमण करते हुए स्त्री-यौनिकता के प्रश्नों पर विचार करती हैं। वह उस समाज का आंतरिक परिवेश चित्रित करती हैं जहाँ धर्म और पितृसत्ता का दबाव स्त्री को 'आत्म' से संवाद करने की छूट नहीं देता।

फ़ैज़ुन्निसा के लेखन को विद्रोह बल्कि अतिक्रमण के रूप में देखा जाना चाहिए। वह लेखन में स्त्रीत्व का अतिक्रमण करती है। अपने समय से कहीं आगे की इस रचना पर पाठकों और आलोचकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। फ़ैज़ुन्निसा बांग्ला में लिखती थी लेकिन उन्हें अरबी, फ़ारसी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने फ़ैज़ुन लाइब्रेरी बनाई थी और रवींद्रनाथ ठाकुर की बहन स्वर्णकुमारी देवी (बांग्ला की पहली स्त्री-उपन्यासकार (*दीपनिर्वाण,* 1868) के स्त्री-संगठन शक्ति समिति की प्रखर सदस्य थीं। उन्हें औपनिवेशिक बंगाल और अन्य प्रांतों में हो रही राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक हलचलों की पूरी जानकारी थी। अब्दुल कुदस ने *आलोर दिशारी*[26] में लिखा है कि फ़ैज़ुन्निसा प्रतिदिन कुछ घण्टे लाइब्रेरी में बिताती थीं और *इस्लाम प्रचारक* और *सुधारक* जैसी पत्रिकाएँ नियमित तौर पर ख़रीदती थीं। ऐसे वक़्त में, जब स्त्री से सिर्फ़ यह अपेक्षा की जाती थी कि वह घर को आरामदायक शरणस्थली बनाए, कुशल गृहिणी बने, एक मुसलमान स्त्री का उपन्यास लिखना परम्परागत मूल्यों को चुनौती देना था और साहसिक अभियान की शुरुआत भी। इसकी भूमिका में वे बहुपत्नीत्व की कड़ी आलोचना करते हुए अपने परिवार के बारे में बहुत बोल्ड ढंग से लिखती हैं।[27] फ़ैज़ुन्निसा दो घनिष्ठ

[26] अब्दुल कुदस (1979).
[27] फ़यीज़ा एस. हसनत (2009).

प्रसंगों का ज़िक्र करती हैं। पहला तो यह कि अभी वे छोटी ही थीं कि उसके विवाह का प्रस्ताव घर पर आया, वह पिता का ही रिश्तेदार था, विवाह-संबंध की मनाही ने उस व्यक्ति को बुरी तरह तोड़ दिया और पूरा जीवन दु:ख में बिताया।[28] फ़ैज़ुन्निसा का कहना है कि इसके बाद उनका भाग्य दुर्भाग्य में बदल गया, पिता की मृत्यु हो गयी और माँ एक धनी व्यक्ति की दूसरी पत्नी बन गयी। अपने बारे में फ़ैज़ुन लिखती हैं, 'शादी के कुछ वर्ष मैंने ख़ुशी से गुज़ारे। पति अपने आप से ज़्यादा मुझे प्यार करता, मुझे एक मिनट के लिए भी अकेला न छोड़ता। इस बीच मैंने दो बेटियों को जन्म दिया। पति ने एक और शादी की थी पर पति मेरे प्रति आकर्षित रहता, जिसे देख कर सौतन ईर्ष्या से जल-भुन जाती। वह मुझसे पीछा छुड़ाने के उपाय ढूँढ़ने लगी। जो व्यक्ति मुझे एक मिनट के लिए अकेला न छोड़ता वह अब हमेशा के लिए अकेला छोड़ देना चाहता था। इसी परिस्थिति में मैं अलग घर लेकर रहने लगी।'[29] यह बात महत्त्वपूर्ण है कि फ़ैज़ुन ने अपना पुस्तकालय बनाया, अख़बारों में लिखा और पति के आगे कभी हाथ नहीं पसारा और स्त्री-संगठनों की सदस्य रही। यद्यपि अपने उपन्यास में उसने रूप और जलाल की प्रेमकथा लिखी और प्रेम के आगे स्त्री का आत्मसमर्पण दिखाया लेकिन जीवन में उसने इस्लाम में प्रचलित बहुपत्नीत्व का विरोध किया। निजी तौर पर फ़ैज़ुन्निसा द्वारा बहुपत्नीत्व को चुनौती देना और पारिवारिक सुरक्षा के दायरे से बाहर निकल कर एक आत्मनिर्भर एजेंट के रूप में सामने आना नयी स्त्री की छवि का दिशा-निर्देश करता है। अपनी स्वतंत्रता के लिए स्त्री का संघर्ष वस्तुत: राष्ट्रवादी क्रांति के लिए किये जाने वाले संघर्ष से बहुत भिन्न नहीं है। इस संघर्ष में उसे अनेक स्थापित सामाजिक संस्थाओं, वर्चस्वशील विचार-सरणियों से टकराना होता है क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज की स्त्री-विरोधी परम्पराओं के आयाम अपने-आप में विशिष्ट होते हैं जो स्त्री को घर, पति, संतान की पूरी ज़िम्मेदारियाँ सौंपते हैं। यहाँ तक कि स्त्री के लिखे को पाठक और प्रकाशक भी उपेक्षित करते हैं। फ़ैज़ुन्निसा स्त्री-यौनिकता, पर्दा, शिक्षा और बहुविवाह के प्रश्नों पर विचार करती दीखती हैं।

■■■

मुसलमान स्त्रियों के लिखे हुए को प्रकाश में लाए बिना हम राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों की स्थिति और योगदान को समझ नहीं सकते *द वर्ल्ड ऑफ़ मुसलमान वुमॅन इन कोलोनियल बंगाल* में सोनिया अमीन ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में मुसलमान स्त्रियों के संघर्ष का विश्लेषण करते हुए कहा है कि मुसलमानों की पितृसत्ताक व्यवस्था भी स्त्रियों को परम्पराश्रित आधुनिक विचारधारा देने का प्रयास कर रही थी। जहाँ हिंदू और ब्रह्म समाज सुधारकों की विचारधारा सीता, सावित्री के पौराणिक, मिथकीय चरित्रों पर आधारित थी वहीं मुसलमान समाज-सुधारक स्त्रियों के सामने हज़रत मुहम्मद की पत्नी आयशा, बेटी फ़ातिमा— जो धैर्य और सहनशीलता का उदाहरण समझी जाती हैं— को आदर्श चरित्रों के रूप में रख रहे थे। हिंदुओं की तर्ज़ पर उनका भी मानना था कि समुदाय की संस्कृति की रक्षा का दायित्व स्त्रियों का ही होता है। राष्ट्रीय आंदोलन को जेंडर के दृष्टिकोण से यदि विश्लेषित किया जाए तो साहित्यिक और ग़ैर-साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर पितृसत्ता यह मान रही थी कि स्त्रियों का कोई अधिकार उनकी देह पर नहीं है। मुसलमान स्त्रियों के सन्दर्भ में यह बहुस्तरीय था। बहुत से आलोचकों ने उस दौर की मुसलमान स्त्रियों के लिखे और कहे हुए पर विचार करने की ज़रूरत ही नहीं समझी। पितृसत्ता से अनुकूलित राष्ट्रवादियों ने उनकी उपेक्षा की, जबकि मुसलमान पितृसत्तात्मक नियंत्रण इस समय में स्त्रियों को आधुनिक करने की दिशा में प्रयास करना प्रारम्भ कर रहा था, आधुनिकतावादी विचारधारा स्त्री पर परिवार और पुरुष के नियंत्रण को वैधानिक बनाने की प्रक्रिया

[28] *रूपजलाल* : भूमिका : 5–6.

[29] वही : 7.

में थी। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप मुसलमान स्त्रियों ने आधुनिकता का कृत्रिम जामा पहनने की अपेक्षा स्वयं को परदे में रखकर जीना और वहीं मरना पसंद किया।

रुक़ैया सखावत हुसैन ने *अबरोध बासिनी* में ज़िक्र किया है कि 'एक बार एक घर में आग लग गयी, घर की मालकिन ने अपने सारे गहने एक पोटली में बाँधे और जल्दी में शयनकक्ष से निकली, बाहर निकलते ही उसने देखा कि आँगन में बहुत से लोगों की भीड़ जमा है— जो आग बुझाने की कोशिश कर रहे थे। वह अपने शयनकक्ष में वापस चली गयी और बिस्तर के नीचे छिप गयी। जल मरी, लेकिन बाहर नहीं निकली, पर्दा प्रथा जिंदाबाद!' रुक़ैया सखावत हुसैन ने 1905 में *सुल्ताना का सपना* लिखा, जिसमें उन्होंने परदे के भीतर घुटती हुई स्त्री की यातना और स्वातंत्र्य-स्वप्न का चित्रण किया। ठीक इसी समय लेखकों का ध्यान इस बात पर ज़्यादा था कि नयी लेखिकाएँ स्त्री की शुचिता, पवित्रता, सतीत्व की कहानियाँ लिखें। लेखिकाओं को समाज में उच्चतर मूल्यों की स्थापना के प्रयास की दिशा में कार्य करने के लिए दाव डालना चाहिए। मध्यवर्ग से संबंधित किसी लेखिका का साहस नहीं हुआ कि वे इन बने-बनाए नियमों के दायरे से बाहर जाए। इसलिए घर की परिधि में रोमांटिक अभिव्यक्तियों तक उनकी रचनात्मकता महदूद रही। मध्यवर्गीय परिवारों से सम्बद्ध लेखिकाओं ने तयशुदा दायरे में ही आत्माभिव्यक्तियाँ कीं और सीधे-सीधे अपनी बात कहने के ख़तरे, जो अभिजात्य या उच्च वर्ग से सम्बद्ध लेखिकाएँ उठा सकती थीं, वे इन्होंने नहीं उठाए और पुरुषों की दृष्टि के अनुरूप ही स्त्री-छवि चित्रित की।

रुक़ैया सखावत हुसैन ने 1905 में *सुल्ताना का सपना* लिखा, जिसमें उन्होंने परदे के भीतर घुटती हुई स्त्री की यातना और स्वातंत्र्य-स्वप्न का चित्रण किया। ठीक इसी समय लेखकों का ध्यान इस बात पर ज़्यादा था कि नयी लेखिकाएँ स्त्री की शुचिता, पवित्रता, सतीत्व की कहानियाँ लिखें। उन पर दबाव डाला जाए कि लेखिकाओं को समाज में उच्चतर मूल्यों की स्थापना का प्रयास करना चाहिए।

हैदराबाद की बिल्कीस जहाँ ख़ान (1930) और रामपुर की राजकुमारी मेहरुन्निसा (1933) ने अपने अंतरंग जीवन के टुकड़े संस्मरणों में लिखे। इसके अलावा हमीदा हुसैन राजपुरी ने *हमसफ़र* (1992) शीर्षक से आत्मकथ्य लिखा, जिसका अनुवाद उर्दू से अंग्रेज़ी में *माय फ़ेलो ट्रेवलर* (2006) शीर्षक से अनुवाद प्रकाशित हुआ।[30] ज़ोहरा सहगल (1912) की आत्मकथा *क़रीब से* में ज़ोहरा ने रंगमंच, इप्टा और फ़िल्मी जीवन से जुड़े अनुभवों पर खुल कर लिखा, साथ ही कामेश्वर सहगल से अंतर्जातीय विवाह और प्रेम प्रसंग पर लिखते हुए किसी सेंसरशिप की परवाह नहीं की। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि ज़ोहरा को विदेशों का अनुभव था और वे रामपुर के राजसी परिवार से जुड़ी थीं।[31] शौक़त कैफ़ी भी इप्टा से ही सम्बद्ध थीं। उन्होंने अपनी पुस्तक में कैफ़ी आज़मी के साथ अपने प्रेम और विवाह-प्रसंग को अत्यंत दिलचस्प अंदाज़ में पत्रों में ज़ाहिर किया, 'कैफ़ी! मैं तुम्हें बहुत चाहती हूँ, इतना जिसकी कोई सीमा नहीं है, संसार की कोई भी ताक़त मुझे तुम्हारे पास आने से नहीं रोक सकती, कोई पर्वत, पहाड़, समुद्र, नदी, मनुष्य, कोई आकाश, कोई ईश्वर, कोई देवदूत मुझे रोक नहीं सकता, और केवल ख़ुदा ही जानता है इस बारे में।' उधर कैफ़ी भी अपने ख़ून से लिखे प्रेम पत्रों में इसी भाव की व्यंजना करते दीखते हैं।[32]

[30] हमीदा अख़्तर हुसैन (1992).
[31] ज़ोहरा सहगल (2013).
[32] शौक़त कैफ़ी (2010).

जीबोन स्मृति शीर्षक से बंगाल की राजनीतिक कार्यकर्त्ता हमीदा रहमान (1920) ने आत्मकथा लिखी। आत्मकथा के केंद्र में पलाश नाम के व्यक्ति से प्रेम और विछोह है। पलाश ने हमीदा रहमान को पढ़ने-लिखने और राष्ट्रीय आंदोलन में शिरकत करने की राह दिखायी।[33] पलाश 1930 में हमीदा से मिला था। तबसे निरंतर वे आपस में मिलते रहे, राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में पलाश बेहद सक्रिय था और उसका भूमिगत होने, बीच-बीच में किशोरी हमीदा से मिलने ने उनके बीच के संकोच और झिझक को हटा दिया था। हमीदा लिखती है, 'ईद की रात मैं हमेशा उसका इंतज़ार किया करती थी, वह मेरे जीवन का बहुत महत्त्वपूर्ण क्षण होता। मैं अपने घर के फाटक के आगे टहलती रहती, जबतक वह अपनी छोटी-सी साइकिल से आ नहीं जाता। उसके आने पर मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगता। डर लगता कि कहीं ऐसा न हो वो ना आ पाए। पर वह हमेशा ईद को रात नौ बजे आता, मैं बहुत ख़ुश होती।'[34] आगे वे बताती हैं कि कैसे उनके बीच पत्रों का आदान-प्रदान शुरू हुआ और रोमांस फलता-फूलता गया। पाठक उनके विवाह की सूचना का इंतज़ार करता है, लेकिन पलाश के भाई के विरोध के कारण यह सूचना पाठक को नहीं मिलती। हमीदा के पिता भारी-भरकम दहेज़ देने में असमर्थ थे। हमीदा पूरी तटस्थता से इस दुखद प्रसंग को यथार्थ रूप में चित्रित करती हैं। अपने भावों और अनुभूतियों का कोई विवरण नहीं देतीं और बताती हैं कि पिता ने और लड़के देखने शुरू कर दिये। 1942 में उसका विवाह किसी और से हो गया। लेकिन कहानी यहीं ख़त्म नहीं होती। शादी के एक दो साल बाद ही हमीदा कलकत्ता गयी और वहाँ उसे पलाश फिर मिला। सत्रह साल की हमीदा पलाश से मिलकर बहुत ख़ुश हो जाती, 'हम बाहर साथ-साथ जाते, एक साथ सामूहिक रसोइयों में काम करते-करते और भी नज़दीक आ गये। उस समय मेरे पति कलकत्ता में नहीं थे, इसलिए हमारी नज़दीकियाँ बढ़ती गयीं। जब कभी हम मिल नहीं पाते एक-दूसरे के बग़ैर बहुत दुखी रहते।'[35] पलाश-प्रसंग के 50 वर्ष बाद लिखी आत्मकथा में हमीदा का कहना है तब उसका यह व्यवहार नादान उम्र के कारण था, हालाँकि यह बात पाठक को बहुत दूर तक ग्राह्य नहीं होती क्योंकि वे लिखती हैं— 'तब मुझे मालूम ही नहीं था किसी पर-पुरुष से मित्रता पाप है। यह मेरी समझ के बाहर था कि बचपन के अभिन्न मित्र के साथ संबंध, विवाह के बाद ग़लत कैसे हो सकते हैं। मैं वास्तव में तब अबोध थी।'[36] हमीदा और पलाश का सम्पर्क रिश्तेदारों की नज़र में आ गया और हमीदा को पलाश से मिलने की मनाही हो गयी। हमीदा को अध्यापिका नहीं बनने देने पर उसने आत्महत्या की असफल कोशिश की। 1960 तक पलाश राज्य विधानसभा का सदस्य और चार बच्चों का पिता बन चुका था। वह फिर से हमीदा से मिलने आया जिसके बारे में वे लिखती हैं— 'मुझे पसंद नहीं था कि अब वह मुझसे मिले, लेकिन मैं उसे आने से मना नहीं कर सकी। मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकती कि पलाश को लेकर मुझमें एक कमज़ोरी थी।'[37] उसके मिलने आने से हमीदा को थोड़ी असुविधा हुई पर उसने वर्षों बाद बालपन के इस प्रेम-प्रसंग को लिखा। यह लिखना उसकी अंत:प्रेरणा के कारण ही सम्भव हो पाया, क्योंकि ऐसे अंतरंग प्रसंगों को बाहर लाने में बाहरी दबाव ज़्यादा कारगर साबित नहीं होते।

राजनीतिक जीवन जीने वाली बेगम कुदसिया एजाज़ रसूल (1908) की आत्मकथा *फ़्रॉम पर्दा टू पार्लियामेंट* ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के अनुभव से पूर्ण है। एक मुसलमान लड़की जिसका लालन-पालन एक अभिजात और राजनीतिक रूप से सक्रिय परिवार में हुआ, उसने कैसे परदे से

[33] हमीदा रहमान (1990).
[34] वही : 97.
[35] वही : 28.
[36] वही.
[37] वही : 128-129.

बेनज़ीर की आत्मकथा ... अपने-आप में किसी आम स्त्री की आत्मकथा मालूम देती है। मसलन, आत्मकथा में उन्होंने अपने बच्चों को लेकर, अपने स्वास्थ्य को लेकर जो चिंताएँ व्यक्त की हैं वे देश की चिंता के समानांतर चलती रहती हैं, एक साधारण-सी पितृविहीन लड़की, एक चिंतित माँ, एकाकी राजनीतिज्ञ की अनेकानेक छवियाँ पाठक के सामने कौंध जाती हैं, लेकिन सब पर हावी रहती है व्यावहारिकता, लोकतंत्र की चिंता और देश के साथ उनका जुड़ाव।

पाकिस्तान मूवमेंट का अंग बनकर अपनी अलग पहचान बनायी। बेगम रसूल की शादी अवध के जागीरदार नवाब एजाज़ रसूल से हुई जो मुस्लिम लीग के सदस्य थे। कुदसिया ने 1937 से 1940 तक कौंसिल के उपप्रधान के तौर पर काम किया। वे पहली भारतीय मुसलमान स्त्री थीं जो इतने ऊँचे पद तक पहुँचने में कामयाब हुई। स्वतंत्रता के बाद वे इंडियन नेशनल कांग्रेस की सदस्य बनीं। ज़मींदारी प्रथा का पुरजोर विरोध करने और रैयत के पक्ष में आवाज़ उठाने के कार्यों ने उन्हें प्रसिद्धि दी और 1952 में राज्यसभा की सदस्य बन गयीं। आत्मकथा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज में नेतृत्वकारी क्षमता वाली स्त्रियों के अनुभव और क्षमता का उपयोग का प्रतिशत बहुत कम है। आज भी पूरे विश्व की स्त्रियों का लगभग दो प्रतिशत ही संसद तक पहुँचने में सक्षम हो पाया है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था, सत्ता के संश्लिष्ट समीकरणों में स्त्रियाँ नीति-निर्धारक पदों पर बहुत कम पहुँच पाती हैं। राष्ट्रीय आंदोलन और देश-विभाजन ने भी स्त्रियों के व्यक्तित्व विकास के नये अवसर दिये थे। विभाजन शिक्षा, प्रशिक्षण और रोज़गार के नये अवसर भी साथ लेकर आया था, साथ ही निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की सीमाएँ भी टूटीं, उनका पुनर्निर्धारण हुआ। कई ऐसी स्त्रियाँ जिन्होंने पाकिस्तान के बनने के पक्ष में आंदोलनों में भाग लिया। आंदोलन के पहले और आंदोलन के दौरान सार्वजनिक सभाओं में खुलकर शिरकत की, मसलन बेगम शहनवाज़, बेगम राणा लियाकत अली ख़ान, बेगम इकरामुल्लाह, जिन्हें 1947 में पाकिस्तान के अस्तित्व में आते ही घर के भीतरी दायरे में ढकेल दिया गया, उन्हें सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की अब मनाही थी। फ़रीदा शाहिद का मानना है कि, 'इस्लाम के, अपने ढंग से लागू किये जाने के कारण पाकिस्तान में असमानता और अधीनस्थता की स्थिति को पोषण और बढ़ावा मिला।'[38] राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान जो स्त्रियाँ पुरुषों के समकक्ष सभाओं, बैठकों, आंदोलनों में भाग लेने लगी थीं, उनको तब रोकना ग़ैर-प्रगतिशीलता में शुमार होता, इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद सांस्कृतिक परम्परा, आदर्श और परदे जैसे नियम लागू कर दिये गये जिससे स्त्री फिर से नियंत्रण में लाई जा सके। स्वतंत्रता के बाद की स्त्री आत्मकथाएँ इसके साहित्यिक साक्ष्यों के रूप में देखी जा सकती हैं, जो बताती हैं कि समाज का स्त्रियों को और स्त्रियों का समाज को देखने का नज़रिया कैसा है, साथ ही स्त्री के आसपास घटने वाले सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति स्त्रियाँ क्या सोचती हैं। पाकिस्तान की नागरिक बन गयी औरतों के आत्मकथ्यों से सामाजिक परिवर्तनों की भूमिका को दर्ज करने और स्वयं समाज-परिवर्तन में उनकी भूमिका समझी जा सकती है।

■■■

[38] फ़रीदा शाहिद (1991).

आत्मकथात्मक पाठ तब बनते हैं, जब कथाकार के भीतर निरंतर संवाद होता है। एक समाज-विमर्श के तौर पर यह संवाद लेखक, पाठ और बाह्य-जगत के बीच बारीक और सघन अंत:संबंध है। जिस समय इस तरह के पाठ बनाए जा रहे होते हैं, उस समय, उस काल खण्ड की विशेष भूमिका लेखक के चित्त पर पड़ती है, इसके साथ ही सम्भावित पाठक की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि पाठ को पढ़ने का तरीक़ा सबका अपना-अपना ही होता है। पाठक, पाठ और लेखक के बीच का आपसी संबंध जटिल और बारीक तंतुओं से बुना हुआ होता है— जिसके निर्माण में इतिहास, समाज और संस्कृति की भूमिका होती है। ये पाठ इसका पता बताते हैं कि निज का परिविस्तार कैसे और किस ढंग से होता है। लेखन और पठन जैसी क्रियाएँ किसी समुदाय के भीतर वैचारिकता, संस्कृति को स्थानीय और वैश्विक दोनों स्तरों पर कैसे प्रभावित करती हैं। दरअसल, आत्मकथाओं को हमें इस रूप में लेना चाहिए कि वे हमारे अनुभवों के विश्लेषण और पुनर्विश्लेषण करने में कैसे सहयोगी होती हैं। एक लिखित पाठ में जिस तरह के संसार का निर्माण होता है उसमें स्व के निर्माण के साथ-संसार के निर्माण का भाव अपने भीतर से आता है या यों कहें कि यह प्रक्रिया आत्म से संवाद के अनंतर पूरी होती है।

स्त्रीवादी आलोचक नैन्सी के. मिलर का कहना है कि पढ़ी-लिखी या अकादमिक जगत से सम्बद्ध स्त्रियों द्वारा आत्मकथात्मक लेखन ज़रूरी है, जो सर्वजन के इतिहास के लिए प्रामाणिक दस्तावेज़ों का काम करते हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्ति कथाएँ जन-इतिहास को बेहतर ढंग से बताने का काम करती हैं। अकादमिक जगत से जुड़ी आत्मकथाएँ, जिनमें किसी ने अपने जीवन के ब्योरे (आत्मानुभव) दे रखे होते हैं, वस्तुत: वे अपने आप को ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय जाँच के लिए प्रस्तुत कर रही / रहा होता है। स्त्री-इतिहास को देखने के लिए बीसवीं शताब्दी में स्त्री के लिखे हुए की ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय पड़ताल ज़रूरी होगी क्योंकि ये वे हैं जो स्त्री संबंधी मुद्दों से गहरे तौर पर सम्बद्ध रही हैं और अपने बारे में दस्तावेज़ लिखकर वे बहुत बड़ा बौद्धिक रचनात्मक क़दम उठाती हैं। इस तरह वे स्वयं ही पाठ का अंश बन जाती हैं और साथ ही उन मुद्दों की भी जिनकी वक़ालत वे करती हैं।'[39]

इन स्त्रियों का लिखा हुआ स्वयं को मुक्त करने की दिशा में एक प्रयास है। इन आत्मानुभवों को पढ़ने से इन स्त्रियों की टकराहटों, चाहे वे समाज के साथ हों, परिवार के साथ हों या स्वयं के साथ हों, के साथ-साथ व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों की भी परतें खुलती हैं। वे कौन से कारण हैं कि कोई स्त्री आत्मकथा जैसी विधा का चुनाव करती है? जो भी उस आत्मकथ्य को पढ़ता है वह उसकी साहित्य-सजग मुद्रा को सराहे बिना नहीं रह सकता, एक ऐसा पाठ जो निजी और सार्वजनिक के बीच मध्यस्थता कर सके और साथ ही स्वानुभवों को भी व्यक्त कर सके। उदाहरण के तौर पर उर्दू में लिखी हुई बेगम अनीस किदवई की आत्मकथा को देखा जा सकता है। *ग़ुबार-ए-क़ारवाँ* में उत्तर प्रदेश के बाराबंकी की रहने वाली अनीस किदवई (1906-1982) ने एक ओर देश-विभाजन के पहले और बाद के सामाजिक-राजनीतिक हालातों का जायज़ा लिया है, तो दूसरी ओर मुसलमान होने के नाते शिक्षा ग्रहण करने और जीवन की धारा का निर्णय करने के लिए परिवार पर निर्भरता और बतौर स्त्री स्वयं पर पड़ने वाले सामाजिक, पारिवारिक दबावों, जेंडर की राजनीति और सेंसरशिप का ज़िक्र किया है। एक स्त्री की दृष्टि से आज़ादी के आसपास के वर्षों में भारत-पाकिस्तान को देखने का यह अपनी तरह का पहला उल्लेखनीय प्रयास है, जिसकी अगली कड़ी के तौर पर *आज़ादी की छाँव* में शीर्षक आत्मकथात्मक संस्मरण को देखा जा सकता है। इसे भले ही आत्मकथा न कहा जाए क्योंकि उसमें व्यक्ति के आत्माख्यान से ज़्यादा जगह सामाजिक-राजनीतिक प्रसंगों को मिली है, लेकिन जो दरअसल हिंदुस्तान की आज़ादी की छाँव में भी तपती धूप का ताप झेलने को विवश उस आम जन का आख्यान

---

[39] मैरी जेन डिकरसन (1989).

है जिसे आज़ादी के नाम पर विस्थापन, ग़रीबी, शोषण, अपमान का शिकार होना पड़ा। रोग-बीमारी, यौन और अन्य प्रकार की हिंसा के शिकार लोगों को जानवरों से भी बदतर दशा में खुले आसमान के नीचे गर्मी, लू, शीत और वर्षा के साथ देशव्यापी भ्रष्टाचार और अफ़वाहों का शिकार होना पड़ा। अनीस किदवई ने स्वयं जाकर शरणार्थी शिविरों में सेवा की— साम्प्रदायिक उन्माद के शिकार हो चुके पति का शोक विस्मृत करने का यही तरीक़ा था।

औरतों के आख्यान, जो बिल्कुल निजी अनुभवों से उद्भूत होते हैं, चिंतन और विचार की बनी-बनाई सरणियों को तोड़ते हैं। इन आख्यानों की विशेषता यह है इनमें लेखक विषयी (सब्जेक्ट) को छोड़ता चलता है। स्त्री आत्मकथाकार अपने निजी जीवन को बौद्धिक, सांस्थानिक और सांस्कृतिक संदर्भों में रखकर आवा-जाही करती हैं। परम्परा से जो आत्मकथा का रूप है वह स्त्री और विशेषकर मुसलमान स्त्रियों के यहाँ आकर बदल जाता है। ये जीवनाख्यान निजी और सार्वजनिक दोनों हो उठते हैं, क्योंकि इनमें समाज, धर्म और राजनीति के उन समीकरणों से पाठक / आलोचक रूबरू होता है जो अपने रूपबंध में स्त्री और पुरुष पाठक / आलोचक दोनों को यह चुनौती देते हैं कि वे आत्म के वास्तविक, काल्पनिक और प्रामाणिक विमर्श को प्रस्तुत करें।

किश्वर का बतौर स्त्री यूँ सब कुछ खुल कर अभिव्यक्त कर देना अपने भीतर के भय पर विजय पाने की प्रक्रिया है। ... किश्वर परम्परा का विरोध करती हैं, सार्वजनिक जीवन में अकेलेपन के ख़तरे उठाती हैं, ... उधर दूसरी ओर रूढ़ि-भंजन और विद्रोह का रोमांच तब ख़त्म-सा हो जाता है जब वह हड़बड़ाहट में छीनी हुई आज़ादी के फलस्वरूप एक ऐसे पुरुष को पहले प्रेमी और फिर पति के रूप में चुन लेती हैं, जिसके लिए स्त्री सिर्फ़ एक देह है।

मिखाइल बाख़्तिन ने 'साक्षी और न्यायाधीश' होने को ही मनुष्य होना कहा है, जिसका अर्थ है हम देखते और तौलते हैं। देखना और स्थितियों को तौलना ही एक घटना को विभिन्न व्यक्तियों द्वारा देखे जाने और एक ही स्थिति या घटना की विभिन्न व्याख्याओं को जन्म देता है। 1947 के भारत-विभाजन ने मानव-इतिहास का अब तक का सबसे बड़ा उदाहरण पेश किया। भारत-पाकिस्तान का लिखित इतिहास विस्थापित समूहों के संघर्षों, हत्याओं, यौन-हिंसा, लूटपाट, भ्रष्टाचार और असंतोष के तमाम साक्ष्यों का इतिहास है। लेकिन विभाजन ने भी अन्य किसी युद्ध की तरह ही स्त्रियों पर दूसरे ढंग का प्रभाव डाला। युद्ध के होने के कारणों में से किसे सही ठहराया जाए और किसे ग़लत, इस प्रश्न से भी पहले यह मुद्दा महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ भी हिंसा, झड़पें और युद्ध होते हैं वहाँ स्त्रियों और बच्चों पर पड़ने वाले प्रभाव भिन्न क़िस्म के होते हैं। *ग़ुबार-ए-कारवाँ* और *आज़ादी की छाँव में* इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इतिहास की पुस्तकों में भारत-विभाजन के विषय में जो भी तथ्य और आँकड़े उपलब्ध हैं उनमें समाज के हाशिये पर जी रहे लोगों की आवाज़ नदारद है। इनकी आवाज़ों को साधारण-अतिसाधारण समझ कर उच्चवर्गीय राजनीति के बोझ तले दबा दिया गया। ऐसे में गद्य और केवल गद्य ही ऐसी विधा थी जिसमें शोषितों, पीड़ितों, हाशिये के लोगों की आवाज़, धार्मिक संवेदना के मुद्दों को इन दोनों देशों में अभिव्यक्त किया जा सकता था। इंतज़ार हुसैन, भीष्म साहनी, मंटो, अमृता प्रीतम समेत कई रचनाकारों ने गद्य की विभिन्न विधाओं में देश-विभाजन, यौन-हिंसा, लूट-खसोट, भ्रष्टाचार को स्वर दिया। लेकिन स्त्री-आत्मकथाकारों ने देश-

विभाजन से रूबरू होकर जो अभिव्यक्ति की, वह स्त्री दृष्टि से देखे-झेले देश-विभाजन का प्रामाणिक आख्यान है।

गुबार-ए-कारवाँ अधूरी ही मक़तब-ए-जामिया, दिल्ली से 1983 में मूल उर्दू में छपी। *आज़ादी की छाँव में* (1949) का प्रकाशन 1974 में हुआ। विभाजन के दौरान हुए दंगों और शरणार्थियों की समस्या का आँखों देखा ब्योरा प्रस्तुत करती हुई इन रचनाओं में स्त्री के बतौर अभिकर्ता स्थापित होने की यात्रा है। इनमें तत्कालीन भारतीय राजनीति में सक्रिय स्त्रियों की जानकारी ही नहीं बल्कि भारतीय मुसलमान परिवारों में औरतों की स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। *गुबार-ए-कारवाँ* का हिंदी अनुवाद उनकी पोती प्रोफ़ेसर आयशा किदवई कर रही हैं। अनीस किदवई की आत्मकथा और संस्मरण में भारतीय राजनीति में भारत-विभाजन के दौर में आये कई परिवर्तनों का ज़िक्र है। इतिहास जहाँ विभाजन के दौर को मुसलमान लीग, कांग्रेस और ब्रिटिश शासन के बीच के द्वंद्व पर केंद्रित मानता है, अनीस किदवई एक स्त्री और वह भी मुसलमान स्त्री की आँखों से देखे राजनीतिक परिवर्तनों को पाठक के सामने लाती हैं। 1946 में हुए प्रांतीय चुनावों ने मुसलमान लीग और कांग्रेस को दो अलग अलग ध्रुवों पर खड़ा कर दिया था स्वतंत्र पाकिस्तान की माँग ने भी यहीं से ज़ोर पकड़ा था— लेकिन इस माँग के जन-पक्ष पर इतिहासकार चुप रहे हैं। देश-विभाजन के राजनीतिक-कूटनीतिक पक्षों पर तो विचार हुआ लेकिन इसके मानवीय पक्ष की उपेक्षा की गयी। अनीस किदवई ने स्वयं दंगे झेले, पति को खोया, शरणार्थी शिविरों में लाई गयी उन सैकड़ों लड़कियों और बच्चों से रूबरू हुईं जो दंगों और हिंसा का शिकार हुए। दंगों के दौरान हुई यौन हिंसा के दस्तावेज़ उनके संस्मरण में भरे पड़े हैं। इस नज़रिये से ये किताबें देश विभाजन और भारतीय राजनीति के संक्रमण के दौर के स्त्री-पक्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वे उस दौर की कथा कहती हैं जब लड़कियों की शिक्षा पर ध्यान दिया जाना ग़ैर-ज़रूरी था। अनीस ख़ुद भी औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकीं। *गुबार-ए-कारवाँ* में वे बार-बार ज़िक्र करती हैं कि कैसे परिवार के लड़कों, चचेरे भाइयों को बोलते-सीखते सुन कर उन्होंने अंग्रेज़ी सीखी। तालीम के लिए वे जीवन भर बेचैन रहीं। विभाजन के दौरान हुई हिंसा का जेंडर पक्ष उभारने वाली वे पहली स्त्री रचनाकार हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि वे कितनी चैतन्य थीं और अपने परिवेश, राजनीति, समाज और यौनिकता को समझने की उनकी अपनी दृष्टि थी। गाँधी के आह्वान पर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर वे लिखती हैं :

> औरतों ने अपने घूँघट, कड़े और छागल उतार कर गाँधीजी की सदा पर लब्बैक कहा। सबसे पहले जिन चंद ख़वातीन के नाम हमारे देहात तक पहुँचे उनमें बेगम हसरत मोहानी, बी अम्मा, कस्तूरबा गाँधी और मिसेज सरोजिनी नायडू के थे।
>
> औरतों ने अपने जेवरात और छोटी मोटी पसंदाज़ की हुई रक़में मकामी कांग्रेस कमिटी को दान कर दी। बिदेशी कपड़ों से अपने बक्सा ख़ाली कर के हर ज़िला के सदर ऑफ़िस में होली जलवा डाली। उन दिनों चीज़ें कम थीं मगर आला हुआ करती थीं इसलिए ज़रदोज़ी के इन कपड़ों से अकसर मनों चाँदी कांग्रेस कमेटी को मिली।
>
> बाराबंकी में जब बैलगाड़ियों और रथों में भर कर बिदेसी कपड़े नज़र-ए-आतिश हुए तो बीसों पर्दादार ख़वातीन ने भी ताँगा और इक्कों पर पर्दा बँधवा कर अपने-अपने गाँव-मोहल्ले से बाराबंकी का सफ़र किया। इनमें सिर्फ़ वही ख़वातीन थीं जो तहरीक के लिए चंदा जमा करतीं, चरखा काटती और अपने ख़ानदान के वीरों की आरती उतार कर जेल रुख़्सत करती थीं।
>
> मुझे वो सीन याद है जब एक बड़े खेमे में इर्द-गिर्द पड़ी हुई चिकों से झाँकती हुई हिंदू मुसलमान ख़वातीन होली को जलाते हुए जवाहरलाल को देखने के लिए एक पर एक टूटी पड़ती थी।
>
> स्टेज पर जवाहरलाल जी, चौधरी ख़लीक़ुज़ ज़माँ और हरकिरण नाथ मिश्रा थे। मगर ख़ूबसूरत नौजवान पण्डितजी मोटे खद्दर की शेरवानी और चूड़ीदार पायजामे में सारे मजमें की तवज्जो का मरूका थे।

अंदर औरतें हस्ब-ए-आदत बोल रही थी किसी ने कहा देखो तो कैसा मोटा खद्दर पहन कर आये हैं। शेहज़ादों की तरह पले हैं और अरे इनके कपड़े तक तो पेरिस में धुलते हैं।

एक ने इंकशाफ़ किया अरे इन बाप-बेटे ने तो अपने घर के बिदेसी क़ीमती बर्तन तक तोड़ डाले।

किसी और तरफ़ से आवाज़ आयी, यह पूरा ख़ानदान त्याग मूर्ती हैं। मैं इन सबको नहीं जानती थी। सिर्फ़ ठाकुर रघुनाथ सिंह की फ़ैमिली से वाक़िफ़ थी जिनके बेटे के. डी. सिंह बाबू ने आगे चल कर मशहूर हॉकी चैंपियन की हैसियत से प्रेसिडेंट अवॉर्ड हासिल किया। लेकिन उससे क्या होता है उस वक़्त ये मुतफ़र्रक अनासिर एकता और प्रेम की डोरी में बँधे एक ही जस्बे और एक ही नशे से सरशार थे।

मुझे अपनी तड़प और बेबसी भी याद है न सफ़र के क़ाबिल थी ना तहरीक में शिरकत की इजाज़त न जेल जाने के लायक़। दिल पर पत्थर रखे गाँव में बैठी रही अल्बत्ता औरतों में काम शुरू कर के कांग्रेस पार्टी का पहला जलसा मसौली में कर डाला। एक मोअम्मर ख़ातून को सदर बना कर ज़िला के और देहात से भी ख़वातीन को मदऊ किया। ऊटपटांग धुआँधार तकरीरें हुई अब वो अंदाज़-ए-बयाँ और बालहाना जोश याद करती हूँ तो बेइख़्तियार हँसी आ जाती है मगर उस वक़्त रह-रह कर अपने आज़्ज़ा पर और ख़ुद शफ़ी साहब पर गुस्सा आता था की मुझे क्यों नहीं जाने देते।[40]

मल्लिका ने माँ द्वारा उसके आर्थिक शोषण का भी चित्रण किया है। माँ और नाना का परिवार मल्लिका के गायन पर निर्भर था, ... मल्लिका ने एक समय पर गाना बंद कर दिया। शब्बीर के साथ विवाह ने उन्हें सुख और पूर्णता दी, लेकिन छह बच्चों के बावजूद शब्बीर के असामयिक निधन ने मल्लिका को एकाकी कर दिया।

बेगम किदवई आज़ादी की लड़ाई के दौरान स्त्रियों की भूमिका पर विशेष चर्चा करती दीखती हैं। उनके वर्णन की विशिष्टता यह है कि वे स्त्रियों के आपसी वर्गीकरण, पुरुषों से उनके फ़र्क़ के साथ-साथ असहयोग आंदोलन में इन पुरुषों के भागीदार हो पाने के पीछे छिपी स्त्री की भूमिका को रेखांकित करना नहीं भूलतीं। आत्मकथा के ब्योरे दिलचस्प होने के साथ-साथ तटस्थ भी हैं। स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने वाले पुरुषों की अपेक्षा उनकी स्त्रियों की भूमिका अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण थी इस पर *गुबार-ए-कारवाँ* में वे लिखती हैं :

> अब से पहले सिर्फ़ आला तबक़े की लेडीज व वुमंस कांफ्रेंस, वुमंस लीग, वुमंस क्लब वग़ैरह की मेम्बर हुआ करती थीं। अंजुमन ख़वातीन या अंजुमन तहज़ीब निस्वाँ के नाम से भी मकामी अंजुमनें औरतों की तालीम जिसे उन दिनों तालीमी निस्वाँ कहते थे, के लिए कोशिशें कर रही थी और बहुत ही मेहतात क़िस्म का सोशल वर्क किया करती थी।
>
> सियासत से बस उनका इतना ही ताल्लुक़ था के मोहतरम शख़्सियत की मौत पर ताज़ियति रेज़ोलूशन पास कर दें और तोहमत बचपन की शादी बुरी रीत-रस्मों के ख़िलाफ़ अपने इज्तेमा में यह क़रारदाद मंजूर कर लें या औरतों के हुकूक पर बहस कर लें। ज़्यादातर उनकी सरगर्मियाँ बड़े शहर में छोटे-छोटे स्कूल क़ायम करने, ज़नाना क्लब क़ायम करने और डिनर पार्टियों तक महदूद थीं।

[40] अनीस किदवई (1983).

इस सिलसिले में लखनऊ में बेगम इनाम हबीबुल्लाह और उनकी बहन बेगम शाहिद हुसैन जज़ल हबीबुल्लाह की वाल्दह चंद रानियाँ औरतों के हुक़ूक़ और तालीम-ए-निस्वाँ के ज़बर्दस्त हामी थीं। मिंटो मार्ले इस्लाहाट के तहत कुछ ख़वातीन मकामी म्युनिसिपल्टी की मेम्बर भी बन चुकी थीं इसलिए उन्हें ज़्यादा मवाकए मोअस्सर आ गये थे।

बेगम हबीबुल्लाह ने म्युनिसिपल बोर्ड की मेम्बरी के दौरान शहर के मुख़्तलिफ़ हलक़ों में छोटे-छोटे से बहुत से स्कूल खुलवाए। दिलकुशा क्लब में एक बड़े से बोर्ड पर रानियों और बेगमात के नाम उन्होंने क्लब के क़याम में मदद की। आज भी देखे जा सकते हैं इस क्लब में मुशायरे भी होते थे और पर्दादार बेगमात भी हफ़्ते में एक बार तशरीफ़ लाती थीं।

एहसानफ़रामोशी होगी गर हम इन फ़ैशनेबिल बहनों की दुरुस्त की हुई पगडण्डी को नज़रअंदाज़ कर दें या उसकी अहमियत कम करने की कोशिश करें। ये सरासर अंग्रेज़ी तहज़ीब-ओ-तमद्दुन की आशे ख़वातीन अंदर से हिंदुस्तानी थीं और हिंदुस्तानी औरतों के जमूद व बेहिसी को दूर करने के लिए कोशां।

कुछ भी हो, उन्होंने जो आवाज़ उठाई वो बारात और रिसालों के ज़रिये देहात तक पहुँच गयी।

तहज़ीब अस्मद खातून वग़ैरह कई रसाएल की एडिटर भी ख़वातीन थीं। उन्होंने इस्लाहे रसूम पर किताबें लिखीं शेर-ओ-अदब का ज़ौक़ औरतों में पैदा किया और ख़यालात व आज़ाम की तहरीर शकल दी। अकबर अलहाबादी ने कहा था 'लड़कियाँ पढ़ रही हैं अंग्रेज़ी ढूँढ़ ली कौम ने फलाह की राह' और 'शौक तहरीर मज़ा में घुली जाती है बैठ कर परदे में बेपर्दा हुई जाती है' इन आज़ाद ख़वातीन की बेपर्दगी पर भी उन्होंने ऐतराज़ किया 'हामिदा चमकी न थी इंग्लिश से जब बेगाना थीं अब चिराग़-ए-अंजुमन हैं तब चिराग़-ए-ख़ाना थीं' उन्होंने मर्दों को तम्बिया कि 'हरम सराह की हिफ़ाज़त को तेग ही न रही तो काम देंगी ये चिलमन की कब तक' इन आला तबक़े की अंग्रेज़ियत से मुतास्सिर औरतों तक मिडिल क्लास और लोअर क्लास की औरतों की रसाई न थी यह तबक़ा नसीहत आमेज़ मज़मून निगारी कर के अपनी आना को तस्कीम दे देता था इनमें एक मैं भी थी मगर सत्याग्रह की शमूलात के लिए जो औरतें मैदान में आयीं वो ज़्यादातर मत्तूस्त और ग़रीब तबक़े की थी इस तहरीक़ के साथ ही सियासी और मज़हबी अनासिर ने मिल कर औरतों में दिलेरी, जोश, सियासी सूझबूझ और ईसार का जज़्बा पैदा कर दिया। अतिया फ़ैज़ी, अनसूया सारा भाई और बहुत-सी ख़वातीन के नामों से आशना थे। क़ौमी तहरीक की इब्तिदा में तो औरतें बंधन तोड़ने की जी तोड़ तश्शूश करती रहीं। ज़्यादातर बुज़ुर्गों की मुख़ालफ़त ने उनके क़दम रोक दिये। कम ही खुल कर सामने आयीं और जेल गयीं। इनमें नेहरू ख़ानदान की ख़वातीन भी थी। इसमें शक नहीं उनमें से चंद ही सियासी करवटों का साथ दे सकीं मगर दरपरदह अपने बेटों और भाइयों की हिम्मत बढ़ाने में उन्होंने क़ाबिल-ए-तारीफ़ रोल अदा किया।

वह एक ऐसा दौर था कि हिंदुस्तान उसके लिए बिल्कुल तैयार था कि अमली जद्दोजहद औरतों की इज़्ज़त-ओ-नालूस को दानों पर लगा दें। ये बड़ी तरक़्क़ीपसंद भी औरतों को नाकिस-अल-अक्ल और नाज़ुक फूल समझा करते थे। ख़ुद मत्तूसत तबक़ा की औरतों में भी इसकी सलाहियत ही थी कि वो सियासी ज़िंदगी में कोई मक़ाम हासिल कर सकें। दूसरे उन्हें अपने बच्चे भी सँभालने थे। मर्द जेल चले जाते और घर बच्चों का सारा बोझ औरत के कंधों पर लद जाता।

उन दिनों उन्होंने मर्दानावार बच्चों की परवरिश लड़कियों की नादाइयाँ तालीम और चारके की कटाई बिदेसी माल के बायकाट वग़ैरह को अपने सर ले कर बेमिसाल क़ुर्बानी का मज़हरा किया। माली मुश्किलात ने कमर तोड़ दी लेकिन उन्होंने हिम्मत से सबका मुक़ाबला किया। कुरकियाँ, घरों की नीलाम, पुलिस की योरिश, आज़ा की इख़्तेलाफ़ सबका मुक़ाबला किया और ये बात मर्दों से मनवा ली के क़ौमी जद्दोजेहद में उनका हिस्सा रहा है। अगर वो इन ज़िम्मेदारियों को अपने सर ना लेती तो मर्दों की हिम्मत पस्त हो जाती। औरतों को यह एहसास भी हुआ की सिर्फ़ सियासत उनका पेशा नहीं है। सियासी मशागल के साथ सोशल और इख़्लेसादि तब्दीलियाँ लाना भी ज़रूरी है। इन सब कामों में उन्हें ज़िला लेवल पर मकामी ऑफ़िसरों से भी उलझना पड़ा जिनमें बेश्तर का रवैया हरगिज़

हमदर्दाना नहीं होता था। उनके खोले हुए इदारे सख़्ततरीन इन्क्वायरी और तशद्दुद का निशाना बनते।[41]

अनीस ने स्त्रियों की सीमाओं और गाँधी की राजनीतिक-सामाजिक भूमिका पर बड़ी बेबाक टिप्पणियाँ की हैं जो इतिहास को स्त्री दृष्टि से देखने की वक़ालत करती हैं। निचले तबक़ों, हरिजन जातियों के साथ मध्यवर्गीय हिंदू-मुसलमान समाज कभी गाँधी के विचार से सहमत नहीं हो पाया। किदवई ने इसे रेखांकित किया है कि सभा-सोसायटियों, सुधार-कार्यक्रमों के बावजूद मध्यवर्गीय लोगों ने हरिजनों को सहानुभूति तो दी परंतु उन्हें वैसे अपना नहीं सके, जैसी परिकल्पना गाँधी जी की थी, '... वे जब हरिजनों के लिए कुछ करते तो हमदर्दी व ख़ुदा तरसी के जज़्बे के साथ न कि उनको बराबरी सतह पर लाने के लिए।'

आज़ादी की छाँव में को उनकी आत्मकथा की अगली कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। यह रचना कुल 23 अध्यायों में विभक्त है जिसमें 1947 से 1948 के दौर के भारत, विशेषकर विभाजन के बाद के भारत के राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य पर प्रामाणिक और बेबाक टिप्पणियाँ हैं। पुस्तक का पहला अध्याय ही 'करता हूँ जम्अ फिर जिगर-ए-लख़्त-लख़्त को' शीर्षक से है। जिसमें अनीस की गहरी राजनीतिक विश्लेषक दृष्टि की झलक मिलने लगती है, 'जून में दिल्ली की भंगी बस्ती में एक दिन बापू की प्रार्थना सभा में मेरी बहन बिल्कीस ने, जो अपनी जोशीली तबियत की वजह से बोलते वक़्त बहुत बेचैन हो जाया करती हैं, यह तय कर लिया कि आज बापू को पकड़कर पूछूँगी ज़रूर कि यह आपने क्या किया? हिंदुस्तान हम सबका है, हमको तो यहीं जीना और मरना है, यह आबादी का तबादला और बँटवारा क्या? एक टुकड़े से उन दिनों को क्या तस्कीन मिल सकती है जो एक ऐसे हिंदुस्तान का ख़्वाब देखते रहे हैं जो एक हो, महान हो और जिसे कोई जीत न सके।'[42] बेगम किदवई स्वयं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ी रहीं लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गवर्नमेंट हाउस में जश्ने आज़ादी का आँखों देखा हाल बयान करती हुई लिखती हैं :

'मैं बहुत आलसी थी। पहले मैं उदयशंकर और उसके बाद पृथ्वीराज कपूर जैसे कलाकारों के साथ जुड़ी और उनकी मशहूरी की रौशनी का ही लुत्फ़ लेती रही ... सारे नाटक, सारे दौरों की तैयारियाँ मेरे लिए कोई और करता था, मुझे उसके लिए न कोई परेशानी उठानी पड़ती थी और न कोई ज़िम्मेदारी मुझ पर थी।' ... ज़ोहरा सहगल की आत्मकथा का वैशिष्ट्य है— आत्मश्लाघा से बचते हुए बहुत ही तटस्थ भाव से अपने साथ घटी घटनाओं के ब्योरे देना ...।

> मेरा दिल डूबा जा रहा था। ऐसा लगता था कोई ख़ुशी का गला घोंट रहा है अरमानों पर ओस पड़ी जा रही है। आज तिरंगे झण्डों की बहार में भी दिलकशी न थी! 'इंकिलाब ज़िंदाबाद' के नारे और जय-जयकार आज आत्मा से नहीं टकरा रहे थे। रगों में आज गरम ख़ून नहीं दौड़ रहा था। हिंदी में लिखे हुए साईन बोर्ड, नारे और पोस्टर सब ऐसा लगता था जैसे हमारा मुँह चिढ़ा रहे हैं, मज़ाक उड़ा रहे हैं ... चौकियों पर दाहिने-बाएँ बौद्ध भिक्षु, ब्राह्मण, निरंकारी पता नहीं कौन-कौन विराजमान थे। बहुत-सी भाषाओं में बहुत कुछ हुआ। अंग्रेज़ी, संस्कृत, अरबी, कठिन हिंदी हरेक में। लेकिन कुछ न हुआ तो अपनी बोली में, वही प्यारी बोली : जिसकी हर बात में सौ फूल महक उठते थे।
>
> इतना कुछ हुआ मगर हमारे पल्ले कुछ न पड़ा। मेरी तरह और बहुत-सी औरतें भी रुँधे गलों

[41] वही.

[42] बेगम अनीस किदवई (2000).

> और हैरान आँखों से सारा सीन देखकर जो घर पलटी तो ऐसा लगा जैसे कमर टूट गयी हो। ख़ुद पहली आज़ाद हिंदुस्तान की गवर्नर सरोजिनी नायडू, बावजूद कोशिश के, शपथ पत्र सही न पढ़ सकीं।
>
> क्या इसी भविष्य के लिए हमने सालहा साल इंतज़ार किया था? हममें से कौन यह जानता था कि गड़े मुर्दे उखाड़े जाएँ? और लोकतंत्र की जगह धर्म और मज़हब की ठेकेदारी हुकूमत ले ले?

आज़ादी तो मिली लेकिन किस क़ीमत पर? शरणार्थी कैम्पों के भीतर की अव्यवस्था, निर्धनता और अनाथ बच्चों की स्थिति के बारे में वे लिखती हैं :

> ... छोटी-छोटी लड़कियाँ सूखे के मारे बच्चों को कंधों से लटकाए, चेहरों पर हसरत, बेबसी और फाके की दास्तानें लिए क़तार-दर-क़तार दो छटाँक दूध के इंतज़ार में सुबह से दोपहर तक खड़ी रहतीं। हर माँ यह चाहती कि उसके बच्चे को दूध ज़्यादा मिल जाए ताकि उसकी सूखी छातियों को थोड़ा-सा आराम नसीब हो। हर लड़की या लड़का इसरार करता कि ज़रा-सा और दे दीजिए, ताकि उसकी भूखी अंतड़ियाँ भी शरीक हो सकें। लेकिन मुस्तैद, किफ़ायती वालंटियर उन्हें धक्के देकर निकाल देते। अगर वे ऐसा न करते तो सुबह की चाय कैसे बनती और वे सूखी रोटी किस चीज़ से भिगोकर अपने गले के नीचे उतारते। इंसानों का यह जंगल जानवरों की-सी ज़िंदगी बसर कर रहा था। लोग हाथों में ले-लेकर या काग़ज़ों और ठीकरों में ख़ाना खाते और ठीकरों पर मिट्टी मिले हुए आटे की सियाह रोटियाँ पकाते। तवा, देगची और गिलास सबका काम पत्तों और मटकी के टुकड़ों से लेते थे। दो ईंट रखकर ज़रूरत से निपटते और कभी-कभी इन्हीं दो ईंटों से बावर्चीख़ाना भी बना लिया जाता।

आज़ादी की छाँव में राष्ट्रवाद के स्त्री पक्ष को बताने वाली पहली किताब है जो देश-विभाजन के दौरान और बाद के एक साल में भारत और पाकिस्तान की अवाम में पसरी अव्यवस्था, भ्रष्टाचार और धीरे-धीरे इस्लामी राष्ट्र में बदलते जा रहे पाकिस्तान और अफ़वाहों से घिरे हिंदुस्तान के शरणार्थी शिविरों का लेखा-जोखा और विभाजन के व्यावहारिक पक्ष का यथार्थ चित्र उपस्थित करती है।

■■■

शास्त्रीय गायन और ग़ज़ल से जुड़ी कलाकार, भारत और पाकिस्तान में अपनी गायकी से शोहरत हासिल करने वाली मल्लिका पुखराज (1912-2004) ने उर्दू में आत्मकथा लिखी, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद सलीम किदवई ने *साँग संग ट्रू* (गीत, जो सच्चा गाया गया) शीर्षक से किया। आत्मकथा पचास उपशीर्षकों में व्यवस्थित है जिसे पति सैयद शब्बीर हुसैन शाह और महाराजा हरी सिंह को समर्पित किया गया है।

प्रवाहमयी उर्दू के साथ अंग्रेज़ी, पंजाबी और फ़्रेंच के शब्दों का प्रयोग मल्लिका पुखराज के गहरे जीवनानुभवों और यात्राओं की ओर संकेत करता है। हालाँकि सलीम किदवई को इसकी पाण्डुलिपि व्यवस्थित हस्तलिपि में नहीं मिली थी, लेकिन मल्लिका ने 80 वर्ष की उम्र में आत्मकथा लिखी और जन्म-कथा से लेकर बचपन, युवावस्था, जम्मू और पटियाला के राज दरबारों के मीठे-खट्टे अनुभवों, स्मृतियों को आत्मकथ्य में बहुत ही रोचक ढंग से लिखा। नौ वर्ष की उम्र में ही जम्मू के महाराजा हरी सिंह के दरबार में गायिका के तौर पर स्थापित होना, ननिहाल और माता द्वारा मल्लिका को मिलने वाले वेतन का उपयोग, मल्लिका की कमाई पर पूरे कुनबे का पलना, युवावस्था के कुछ अधूरे प्रेम इन सबका बयान बड़ी ही बेबाकी से मल्लिका करती है। मल्लिका की माँ अपनी तीन वर्षीया बेटी को लेकर बहुत महत्त्वाकांक्षी थी। उनकी इच्छा थी कि मल्लिका सभी कलाओं का उत्कृष्ट ज्ञान हासिल करे, वह मल्लिका को लेकर बचपन में ही जम्मू चली आयीं और मल्लिका के पिता जो कुख्यात जुआरी थे वे अपनी दूसरी पत्नी और बच्चों के साथ गाँव में ही रहे। माँ ने मल्लिका को बड़े गुलाम अली खाँ के पिता अली बख़्श को सुपुर्द कर दिया, और मल्लिका की संगीत शिक्षा आरम्भ हुई। मल्लिका अपने जीवन के छोटे बड़े

क़िस्सों का बयाँ करती है, उसे यह अहसास है कि वह बहुत सुंदर नहीं है लेकिन संगीत में वह श्रेष्ठ है— इसका ज़िक्र वे लगातार आत्मकथ्य में करती है :

> मैंने फ्रेंच ब्रोकेड की साड़ी पहनी हुई थी, उन दिनों अच्छी साड़ियाँ पेरिस, बम्बई और पूना में बनती थीं। मेरे पास महँगी साड़ियाँ बहुत-सी थीं। हर साड़ी दूसरी से सुंदर। महाराजा हरी सिंह ने मेरे लिए इन्हें विशेष आर्डर देकर मँगवाया था। मैं सुंदर नहीं थी न ही मैं स्वयं को आकर्षक समझती थी, लेकिन मेरे केश विशिष्ट थे, मोटे घने काले बालों की चोटी जो एड़ी तक पहुँचती थी, शायद मुझे सुंदर बनाती थी। मैं प्रसाधन का प्रयोग नहीं करती, दरअसल मुझे मालूम ही नहीं था कि सजा-सँवरा कैसे जाए ... मुझे काँच की चूड़ियों का बड़ा शौक़ था, कलाई से कोहनी तक मैं रंगीन काँच की चूड़ियाँ पहना करती ... वह व्यक्ति जो हमारा मेजबान था वह बहुत सुदर्शन था और अच्छे कपड़े पहने हुआ था। मिल मालिक था और बाहर निर्यात करता था। अल्लाह ने उसे सुंदरता के साथ-साथ मीठी ज़बान भी दी थी। पहली बार उससे मिलने पर ही मेरे भीतर तूफ़ान मचलने लगा। उसने मेरी आँखों में गहरे झाँका और एक छोटा-सा रूमाल मेरे हाथ में देकर कहा—'इसे पर्स में रख लीजिए। शायद जब आप इसे देखें तो मेरे बारे में सोचें।'[43]
>
> मैंने वह रूमाल ले लिया और उसके बारे में सब कुछ याद करती रही, यह पहली बार हुआ कि किसी ने पहली मुलाक़ात में ही मेरे दिलो-दिमाग़ पर क़ब्ज़ा जमा लिया हो। मैं बहुत लम्बे समय तक उसके बारे में सोचती रही। मैं हमेशा अपने दिल पर दिमाग़ को तरजीह देती थी। मुझे अच्छी तरह मालूम था कि प्रशंसा और चापलूसी का दौर तुरंत ख़त्म भी हो जाया करता है, उसके बाद औरत अपने आपको गुमनामी के कुएँ में हमेशा के लिए पाएगी। औरत पर अधिकार पाते ही मर्द उसे सम्मान देना बंद कर देता है। फिर वह अपने पुरुष स्वामी की दासी बनकर रह जाती है। मैंने आत्मसम्मान बनाए रखा और इसलिए स्वयं पर गर्व करती हूँ। मुझे शुरू से ही यह मालूम था कि ऐसे आवेगों पर कैसे काबू रखा जाए। दो दिनों के बाद वह अपने दोस्तों के साथ मेरा गाना सुनने आया, उस दिन भी उसने बहुत बढ़िया कपड़े पहने हुए थे। सच तो यह है कि मैं उसे पहले से भी ज़्यादा पसंद करने लगी थी। कुछ घंटे बाद जब वह जाने लगा तो उसने धीरे से मुझसे पूछा—' क्या तुमने रूमाल देखा? मैंने झूठ बोला—'हाँ एक दो बार।' 'क्या तुमने मेरे बारे में सोचा?' 'हाँ' मैंने सच्चाई से जवाब दिया।
>
> मेरा आकर्षण माँ ने पढ़ लिया था और उससे अलग से मिलने से मना कर दिया। इस बात से वह बहुत खिन्न था, वह चाहता था कि मैं रोज़ उससे मिलूँ। लेकिन माँ के कारण मैं उससे मिल नहीं पाती थी। अकेले में हर वक़्त मेरे परिवार का कोई न कोई सदस्य आसपास रहता था। मेरे ऊपर पूरा नियंत्रण माँ का था। मुझे लगता है मैं कब और किसे अपने लिए पसंद करूँ यह मेरा निजी मसला होना चाहिए था, क्या मेरे परिवार को मेरे बारे में हर निर्णय करने का अधिकार था? क्या हमेशा मुझे वही करना होगा जो मेरा परिवार मुझसे चाहता था। मैं परिवार की क़ैद में थी और परिवार के लोग उसका घर आना या हमारा आपस में मिलना बिल्कुल भी पसंद नहीं करते थे। इसी चिढ़ में मैंने सबसे मिलना बंद कर दिया।

मल्लिका कुछ और सम्पर्कों का ज़िक्र करती हैं जिनमें उनकी गायकी और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आत्मीयता चाहने वालों की फ़ेहरिस्त है, जिनमें एक व्यापारी भी है जो ग्यारह बच्चों का पिता है। आत्मकथा में मल्लिका बार-बार व्यंग्य और हास्य का पुट बिखेरती चलती हैं, जिससे पाठक को ऊब नहीं होती। ऐसा ही एक प्रसंग है इसी क़द्रदान का जो मल्लिका के लिए रेवड़ियाँ लाया करता था और बहुत अच्छे कपड़े पहनता था, उसके ग्यारह बच्चे थे और मल्लिका यह जान गयी कि उसकी आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब थी। फिर भी वह मल्लिका के लिए उपहार लाया करता। एक दिन उसने अपना प्रेम मल्लिका के ऊपर ज़ाहिर कर ही दिया। मल्लिका लिखती हैं— 'पता नहीं कैसे इतनी आर्थिक तंगी के बावजूद वह इतने अच्छे कपड़े पहन लेता था। एक दिन कहने लगा 'मैं तुमसे एक

---

[43] मल्लिका पुखराज (2003) : 237.

लम्बे समय से मुहब्बत करता हूँ और रोज़ रात को तीन बजे तुम मेरे सपनों में आती हो।' सुनते ही मैं ठठाकर हँस पड़ी। वह सुबक-सुबक कर रोने लगा। उसका बेतरह रोना देखकर मुझे बहुत हँसी आयी कि ये मर्द भी क्या हैं। उस स्थिति के लिए मुझे ज़िम्मेदार ठहराते हैं, जिसका कारण वे स्वयं हैं।'[44]

तलाक़शुदा स्त्रियों के बारे में मल्लिका लिखती हैं— 'हमारे समय में तलाक़शुदा स्त्री का जीवन नरकतुल्य था। तलाक़शुदा स्त्री की बड़ी बेइज़्ज़ती होती थी। आज की तरह तलाक़ का मसला छोटा-मोटा नहीं माना जाता था। उन दिनों तलाक़शुदा स्त्री को बिल्कुल अलग-थलग कर दिया जाता था। जिस तरह लोग परिजनों की मृत्यु का शोक जताने जाते हैं वैसे ही तलाक़शुदा औरत के भाई, माता-पिता के घर रिश्तेदार और मित्र पहुँचते थे तलाक़ पर अफ़सोस जताने।' मल्लिका अपने ऊपर लादी हुई पारिवारिक और भावात्मक सेंसरशिप को बहुत क़ायदे से विश्लेषित करती हैं, संगीत में पारंगत होने के साथ-साथ कई जगहों पर रहने के कारण उनमें वह अंतर्दृष्टि और व्यावहारिकता है कि वह माँ के भावुक वक्तव्यों की पड़ताल करती चलती हैं।

आगे चल कर उन्होंने अपने ऊपर क़ाबिज़ सेंसरशिप के विरोध में घर पर आने वाले सभी लोगों से मिलना बंद कर दिया। परतंत्रता की बेड़ी में छटपटाती हुई मल्लिका ने विद्रोह का स्वर बुलंद किया और रात के अँधेरे में भागकर अपने पुराने विश्वासी मित्र शब्बीर से विवाह कर लिया। माँ के विरोध, मानसिक प्रताड़ना का सामना भी मल्लिका को करना पड़ा, यहाँ तक कि उन्होंने महफ़िलों में गाना भी बंद कर दिया। बहुत वर्षों बाद उन्होंने रेडियो के लिए ग़ज़लें गायीं। पुस्तक में मल्लिका ने अपने प्रेम और विवाह के विस्तृत ब्योरे दिये हैं। उनकी माँ का उनके ख़िलाफ़ होना, घर से आधी रात को निकल कर शब्बीर के साथ निकाह की दास्तान बहुत विस्तार से कही गयी है। एक गायिका का अभिनेत्री बनने के अधूरे सपने का यथार्थ से साक्षात् होना फिर गायन की तरफ़ लौट आना, आल इंडिया रेडियो में गायकी करना इन सब प्रसंगों को जगह मिली है। *सांग संग टू* की सबसे अच्छी बात यह है कि इसमें प्रामाणिकता का ध्यान रखा गया है। इसके बावजूद इसमें तत्कालीन राजनीतिक संदर्भों, घटनाओं की चर्चा से भरसक बचा गया है। ग़ुरबत, तत्कालीन समाज-सुधार के आंदोलन इन सबके तापमान का पता यह किताब नहीं देती और साधारण आत्मकथा बनकर रह जाती है। हालाँकि पुस्तक में कई करुण प्रसंग भी हैं जो पाठक को प्रभावित करते हैं। आत्मकथा में उनके और रियासतों के महाराजाओं के जीवन पर पर्याप्त जानकारी मिलती है। मल्लिका ने लिखा है, 'दरबार साज़िशों से भरा था, मैं महाराजा के साथ कश्मीर की तरफ़ और शिकार पर भी जाया करती थी। जम्मू में हिंदू-मुसलमान दंगों के बाद स्थिति बदल गयी। मुझ पर महाराजा को विष देने का संदेह किया गया। उसके बाद मैंने जम्मू छोड़ने का निर्णय कर लिया।' वे याद करती हैं कि 'ऐसा भी समय था कि मैं हँसना चाहकर भी हँस नहीं सकती थी। हिंदू-मुसलमान दंगों से मेरा कोई लेना देना नहीं था। न ही ये बातें मेरी समझ में आती थीं, तब भी हिंदू मेरे शत्रु बन गये। जम्मू के बाहर वालों की बात छोड़ भी दें तो रियासत के भीतर के लोग भी इस बात पर भरोसा करने लग गये कि मैं महाराजा की जान लेना चाहती हूँ।' ऐसे माहौल में मल्लिका ने अपनी माँ के साथ लाहौर की तरफ़ जाना तय किया, दरबार में अंतिम गीत गाकर। मल्लिका लिखती हैं, 'महाराजा के दरबार में अंतिम गीत गाते हुए मेरी आवाज़ दर्द से भीगी हुई थी, मेरा दिल भीतर ही भीतर रो रहा था मेरे गले से करुण बाँसुरी की धुन जैसी आवाज़ निकल रही थी। गीत ख़त्म होते ही महाराजा हरी सिंह दरबार छोड़ कर भीतर चले गये, मुझे मौक़ा भी नहीं मिल सका कि उनसे विदा ले सकूँ।'

मल्लिका ने माँ द्वारा उसके आर्थिक शोषण का भी चित्रण किया है। माँ और नाना का परिवार मल्लिका के गायन पर निर्भर था, उन लोगों ने बहुत रुपये उड़ाए भी और डुबाए भी। मल्लिका ने एक

---

[44] वही : 243.

गरिमा श्रीवास्तव

मुसलमान स्त्रियों की आत्मकथाओं का परिविस्तार निज से लेकर समाज तक, परिवार से लेकर राजनीति तक फैला हुआ है। कहीं तो वे अभिव्यक्ति की नयी विधाओं की तलाश में सिर्फ़ आत्मकथा को ही मुकम्मल पाती हैं, और कहीं वे कविता या ग़ज़ल में अपनी बात अपने ढंग से न कह सकने के कारण आत्मकथा विधा को अपनाती हैं। औपनिवेशिक अतीत और उत्तर-औपनिवेशिक वर्तमान के इतिहास-लेखन के लिए ये आत्मकथाएँ दस्तावेज़ बन सकती हैं।

समय पर गाना बंद कर दिया। शब्बीर के साथ विवाह ने उन्हें सुख और पूर्णता दी, लेकिन छह बच्चों के बावजूद शब्बीर के असामयिक निधन ने मल्लिका को एकाकी कर दिया। बाग़बानी, कढ़ाई-सिलाई में उन्होंने अपने जीवन के बाक़ी दिन गुज़ारे। उनके बेटे ने भी जायदाद संबंधी मामलों में उनसे छल किया। उन्होंने नानक देव का चित्र कैनवास पर काढ़ा जो टोरंटो के गुरुद्वारे की शोभा बना। प्रसिद्ध लोक गायिका रेशमा जब उनसे मिलने आयी तो उससे कई बार एक ही गीत सुना, 'हाय ओ रब्बा नईयों लगदा दिल मेरा।' अस्सी की उम्र में उन्होंने आत्मकथा लिखी और 93 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी।

अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका में सलीम किदवई ने बताया है कि लाहौरी उर्दू में लिखे लम्बे-लम्बे वाक्यों को अनूदित करने में उन्हें ख़ासी दिक़्क़त का सामना करना पड़ा, लेकिन शीघ्र ही उन्हें एक पन्ने के लम्बे वाक्यों को पढ़ने का अभ्यास हो गया। रेडियो ग्रामोफ़ोन कम्पनियों की पसंदीदा आवाज़ मल्लिका पुखराज को भारत और पाकिस्तान दोनों देशों में समान यश मिला। आत्मकथा में उन्होंने बचपन से लेकर जीवन के अंतिम पड़ाव तक की यात्रा के बारे में विस्तार से लिखा है। आत्मकथा में उन्होंने पाठक को वैसे ही बाँधे रखा है जिस तरह वे अपनी आवाज़ के जादू से श्रोताओं को बाँधे रखती थीं। यह आत्मकथा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें एक स्त्री कलाकार के संघर्ष, राज्याश्रय की कठिनाइयों, दरबार की आंतरिक राजनीति, स्त्री के बहुपक्षीय शोषण के साथ-साथ मनुष्य होने के नाते उसके अंतर्विरोधों को भी पाठक जान पाता है। मल्लिका की कहानी पराधीन और स्वाधीन भारत के संधिस्थल पर संगीत, कला और नृत्य से रोज़ी-रोटी और सम्मान अर्जित करने वाले कलाकारों की कहानी है। ब्रिटिश भारत की नीतियों ने किस तरह कलाकारों को तवायफ़ और तवायफ़ को देह-श्रमिक में घटा कर रख दिया। ख़ानदानी गवैये और गायिकाएँ जहाँ पहले संस्कृति के वाहक के तौर पर राज्याश्रय और सम्मान पाते थे, वहीं अब बदले समय में उन्हें पुलिस से डर कर रहने पर विवश होना पड़ता था। धीरे-धीरे सम्पत्तिशाली और सत्ता की सरपरस्ती वाले कलाकारों को छोड़कर दूसरे पेशों को अपनाने के लिए इनमें से बहुत से मजबूर हुए। देखते-देखते उनकी सामाजिक हैसियत में भी गिरावट आयी, इनमें से कई ने रेडियो और ग्रामोफ़ोन कम्पनियों के लिए गाना-बजाना शुरू कर दिया। यद्यपि मल्लिका की आर्थिक और सामाजिक स्थिति बहुत अच्छी थी, उनकी माँ और कला के क़द्रदानों ने कभी उन्हें अकेला नहीं छोड़ा। आत्मकथा में मल्लिका अपनी माँ का ज़िक्र बार-बार करती हैं कि वे बेहद अनुशासनप्रिय थीं। लेकिन मल्लिका का दम उनकी सरपरस्ती में घुटता था क्योंकि वे अपनी इच्छा और रुचि से अपने मित्रों का चुनाव करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं थी। उसकी कमाई से ही घर का सारा ख़र्च चलता था। बचपन में ही किन्हीं बाबा रोटीराम ने कह दिया था कि वह मल्लिका-

ए-मुअज़्ज़मा (महान सम्राज्ञी) बनेगी। नौ वर्ष की उम्र में ही महाराजा हरि सिंह के दरबार में बतौर गायिका शामिल होने वाली मल्लिका को हिंदुस्तानी ज़बान और तहज़ीब की संरक्षक के तौर पर देखा जाना चाहिए।

मल्लिका पुस्तक में न सिर्फ़ स्त्री के अंतर्द्वंद्व बल्कि पुरुष की दृष्टि में स्त्री की भूमिका की व्याख्या करती चलती हैं। बतौर कलाकार वे उन षड्यंत्रों और साज़िशों की चर्चा भी करती हैं जिन्होंने उन पर गहरा नकारात्मक प्रभाव डाला। दरबारी षड्यंत्रकारी हरी सिंह को यह समझाने में सफल हो गये कि मल्लिका पुखराज उन्हें विष देकर मारना चाहती हैं। मल्लिका को यह अपमान भीतर तक चुभ गया और उन्होंने आख़िरी गीत गा कर दरबार छोड़ दिया, 'इस कहानी के सबके अपने पाठ थे, मेरे ऊपर किसी को विश्वास नहीं था, मेरे लिए यह सब झेलना बहुत मुश्किल था।'[45]

रंगमंच और फ़िल्म से जुड़ी 1912 में ही जन्मी ज़ोहरा सहगल की आत्मकथा *क़रीब से* (2013) है, जिसका हिंदी अनुवाद दीपा पाठक ने किया। ज़ोहरा सहगल की यह पुस्तक रंगमंच और फ़िल्मी परदे पर लगभग सौ वर्षों की उनकी जीवन-यात्रा का ब्योरा है। आत्मकथा में ज़ोहरा अपने बचपन से लेकर अब तक के जीवन, करियर, विदेश यात्राओं और थियेटर से अपने जुड़ाव की तस्वीर बहुत ही दिलचस्प अंदाज़ में प्रस्तुत करती हैं। आत्मकथा की शुरुआत में ही वे लिखती हैं :

> मैं कभी सोचती हूँ ज़िंदगी एक बहुत बड़ा मज़ाक है। एक मैं हूँ जिसने रोज़ अपने दाँत ब्रश किये, रोज़ नहाया, बिल्कुल धर्म की तरह बालों में तेल डालने, कंघी करने और उन्हें धोने का धर्म निभाया, साँसों की और बदन की कसरत पूरे नियम से की, सच को जैसा देखा वैसा ही बोला ... ख़ुद से भी। लेकिन फिर भी, क्या है ज़िंदगी ? दिन-ब- दिन कमज़ोर होता शरीर, पैरों की लड़खड़ाहट की वजह से मैं लगभग रुक-सी गयी हूँ, दाँत एक-एक करके साथ छोड़ रहे हैं, आँखों की रौशनी इतनी धीमी पड़ती जा रही है कि अकसर लिखते वक़्त मैं पंक्तियाँ और शब्द देख नहीं पाती ... अगर मैं धार्मिक होती तो यही समय था जब मैं ईश्वर पर विश्वास करना शुरू करती, लेकिन मैं नहीं हूँ और इस बारे में बेईमान नहीं हो सकती। मैं मानती हूँ कि कहीं कोई ऊर्जा है, कोई क़ानून है, कोई एक ऐसा न बदलने वाला नियम जिसमें लाल और पीले रंग को मिलाने पर नारंगी रंग बनता है ... कुल मिलाकर देखा जाए तो मैंने एक जोशीली और मज़ेदार ज़िंदगी जी है। मैंने बहुत-सी यात्राएँ की हैं ... मैं अपनी पीढ़ी के बहुत से मशहूर लोगों से मिली हूँ, मैंने दो विश्व-युद्धों का अनुभव किया है और इंग्लैंड में दो बार राजतिलक देखा जिसमें रेडियो पर प्रिंस एडवर्ड का इस्तीफ़े के वक़्त दिया भाषण सुनना भी शामिल है। मैंने कई मशहूर कलाकारों के साथ काम किया, चाहे वह पूर्व हो या पश्चिम। भला इससे ज़्यादा कोई और क्या चाहेगा ?[46]

क़रीब से में जर्मनी के नृत्य स्कूल में प्रशिक्षण से लेकर पृथ्वी थियेटर से जुड़े अपने रंगमंचीय अनुभवों का विस्तृत ब्योरा है। आत्मकथा का प्रारम्भ 'परिवार का इतिहास 'शीर्षक अध्याय से होता है और फिर सिलसिलेवार ढंग से बचपन और लाहौर (1919-1929), युरोप और डांस स्कूल, पहली वापसी समेत 12 शीर्षकों के अंतर्गत ज़ोहरा की ज़िंदगी के उतार-चढ़ाव, प्रेम, विवाह, करियर, पृथ्वी थियेटर और पृथ्वीराज कपूर से गहरे संवेदनात्मक लगाव के साथ, इप्टा का निर्माण, उसका प्रसिद्धि के चरम पर पहुँचना और फिर उसका निष्क्रिय हो जाना ज़ोहरा की जीवन-यात्रा का प्रामाणिक और मय दिनांक ब्योरा शामिल है। एक अभिनेत्री, रंगकर्मी, एक माँ और सबसे ऊपर एक स्वतंत्रचेता स्त्री जो तमाम विपरीत स्थितियों में भी हार नहीं स्वीकारती, अपने से कम वय के पुरुष से अंतरधार्मिक विवाह करने का जोखिम उठाती है, अपने भीतर के कलाकार की हर आवाज़ को सुनते हुए बहुआयामी व्यक्तित्व के रूप में अपना विकास करती है। पति द्वारा आत्महत्या के प्रसंग पर आत्मालोचन करती हुई लिखती हैं, 'मैं अकसर सोचती हूँ कि अगर कामेश्वर ने मुझसे शादी नहीं की होती तो क्या उनकी

[45] वही : 213.

[46] ज़ोहरा सहगल (2013) : 7-9.

ज़िंदगी किसी और तरीक़े से ख़त्म हुई होती। वे बहुत संवेदनशील इंसान थे जो कभी भी इस बात को मान नहीं पाए कि उनकी बीबी अपने काम में लगातार कामयाबी और इज्ज़त हासिल करती जा रही है जबकि उनकी ख़ुद की कामयाबी जो कि हालाँकि कहीं ज़्यादा ऊँचे दर्जे की थी, रुक-रुक कर उन्हें मिली।'

ज़ोहरा सहगल की आत्मकथा का वैशिष्ट्य है— आत्मश्लाघा से बचते हुए बहुत ही तटस्थ भाव से अपने साथ घटी घटनाओं के ब्योरे देना, साथ ही साथ अपने भीतर के जन्मजात आभिजात्य भाव को स्वयं चुनौती देना। आत्मकथ्य के प्रारम्भ में ही उन्होंने अपने वंशवृक्ष का लेखा-जोखा दिया है। नजीबाबाद के रियासती हुक्मरान नवाब जलालुद्दीन ख़ान के ख़ानदान से ताल्लुक़ रखने वाली ज़ोहरा अपने माँ-बाप की सात संतानों में तीसरी थीं जिसका बचपन शान-ओ-शौक़त से गुज़रा। 1930 में उन्होंने ज़र्मनी के डांस-स्कूल में नृत्य सीखा, 1933 में वे वापस आयीं और 1935 में उदयशंकर के अल्मोड़ा स्थित प्रसिद्ध नाट्य दल से जुड़ीं। कामेश्वर सहगल से प्रेम और फिर विवाह इसी दौरान हुआ। आत्मकथ्य लिखने के बारे में वे प्रारम्भ में ही कहती हैं, 'कोई अपने बारे में किताब क्यों लिखता है? सबसे बड़ी वजह तो यह कि इंसान मरने के बाद जीवन से अपनी पकड़ छूटने की कल्पना से डरता है। ऐसे में आत्मकथा उसे मरने के बाद भी अपने होने के भ्रम को बनाए रखने का ज़रिया लगता है। मुझे लगता है कि यह एक तरह की आत्ममुग्धता है, भला किसे परवाह है तुम्हारी भावनाओं की, तुम्हारे संघर्ष की, तुम्हारे सुख या दुःख की? हाँ, शायद तुम्हारे बच्चों के लिए उनकी कुछ अहमियत हो। हालाँकि वो भी दिल से तुम्हें प्यार करने और तुम्हारी देखभाल करने के बावजूद कभी-कभी ऐसा अहसास दिलाते हैं जैसे तुम उनकी ज़िंदगी से जुड़ा एक फ़ालतू हिस्सा हो और तुम्हारे हटने से उन्हें राहत मिलेगी। पता नहीं पर मुझे ऐसा लगता है।'

ज़ोहरा सहगल का आत्मकथ्य उदयशंकर के नाट्य-दल के बनने और फिर बिखर जाने की कहानी भी है। साथ ही यह पृथ्वीराज कपूर की लगन और मेहनत के अंत:साक्ष्य देने वाली आत्मकथा है जिसमें बतौर निर्देशक और अभिनेता पृथ्वीराज कपूर द्वारा पृथ्वी थियेटर के उतार-चढ़ाव की घटनाएँ बयान करने वाले ढेरों पत्र संकलित हैं। ज़ोहरा सहगल का यह आत्मकथ्य स्व से ऊपर उठकर भारत में इप्टा के बनने-बिगड़ने और फिर खड़े होने की दास्तान है। हालाँकि ज़ोहरा राजनीतिक चर्चाओं और ब्योरों से बची हैं फिर भी कथ्य के प्रवाह में तत्कालीन भारत की राजनीति अपनी झलक के साथ उपस्थित है, मसलन अपनी रजिस्ट्री-शादी के दिन का ज़िक्र करती हुई लिखती हैं, '... नेशनल थियेटर का यह विचार इतना प्रभावशाली था कि जल्दी ही देश के दूसरे बड़े शहरों में इसकी शाखाएँ खुल गयीं ... उस समय भारत अपनी आज़ादी की लड़ाई के आख़िरी दौर से गुज़र रहा था तो ज़ाहिरा तौर पर इप्टा के गानों और नाटकों के विषय काफ़ी इंकलाबी और वामपंथी हुआ करते थे जो हम सबको मिल-जुल कर काम करने को प्रेरित करते थे ... मेरी शादी का दिन था 14 अगस्त, 1942 ... यह दूसरे विश्वयुद्ध का समय था, भारत में अंग्रेज़ सरकार के ख़िलाफ़ असहयोग आंदोलन चल रहा था और चारों ओर अफ़रा-तफ़री का माहौल था।' या '1947 के दौरान इप्टा के कुछ लोगों को सरकार की ओर से परेशान किये जाने के वाक़ये हुए, कुछ ख़ास नाटकों पर रोक लगा दी गयी, कलाकारों को गिरफ़्तार कर लिया गया। उस समय देश में अंतरिम सरकार थी और जवाहर लाल नेहरू उसके उपाध्यक्ष बनाए गये थे।'

ज़ोहरा सहगल ने अपने नृत्य एवं रंगमंचीय करियर के लिए जी-तोड़ मेहनत की, साथ ही वे अपने बच्चों को भी ऊँची शिक्षा देने में सफल रहीं। आत्मकथ्य में, वे अपने बेटे पवन के साथ मेल न मिलने पर दुखी और बेटी किरण को नृत्य में मिली सफलता से बहुत उत्साहित दिखती हैं। साथ ही दिल्ली में एक अदद बसेरा बसाने की कोशिश और सरकारी सहायता के न मिल पाने का खेद भी उनके जीवन के अंतिम दिनों में भी कचोटता है। परंतु अंतत: वे अपने बीते जीवन से संतुष्ट हैं, तभी

तो लिखती है, 'अपनी सोच और अपने तजुर्बों के हिसाब से सिखाने और निर्देशित करने की पूरी ज़िम्मेदारी लेने के लिहाज़ से मैं बहुत आलसी थी। पहले मैं उदयशंकर और उसके बाद पृथ्वीराज कपूर जैसे कलाकारों के साथ जुड़ी और उनकी मशहूरी की रौशनी का ही लुत्फ़ लेती रही क्योंकि उनके साथ काम करते हुए सारे नाटक, सारे दौरों की तैयारियाँ कोई और मेरे लिए करता था, मुझे उसके लिए न कोई परेशानी उठानी पड़ती थी और न कोई ज़िम्मेदारी मुझ पर थी। यह सच है कि मैंने शारीरिक और मानसिक तौर पर बहुत कड़ी मेहनत की, लेकिन मैं अपने लिए और भी बड़ा नाम कमा सकती थी अगर मैंने अपना कोई थियेटर ग्रुप या स्कूल शुरू किया होता। मुझे लगता है, यह करने के लिए मैं बहुत आलसी थी। हालाँकि मुझे लगता है कि मुझे कुछ कम मिला, लेकिन मैंने अपने लिए थोड़ी-सी पहचान बनाई, बहुत सारा तजुर्बा कमाया और कड़ी मेहनत के बावजूद अपने काम से बेपनाह खुशियाँ पायीं। और क्या चाहिए, मैं इसे ऐसा ही चाहती थी।'[47]

फ़िल्मों में रेणुका देवी के नाम से मशहूर बेगम ख़ुर्शीद मिर्ज़ा (1918-1989) ने *अ वुमॅन ऑफ़ सब्सटेंस* में अपने अंतरंग जीवन के पहलुओं को लिखा, जिनसे मुसलमान परिवारों के आतंरिक तापमान का अंदाज़ा हो जाता है। यह रशीदजहाँ की छोटी बहन रंगमंच और सिने-अभिनेत्री की आत्मकथा है, जिसे उनकी बेटी लुबना काज़िम ने सम्पादित किया। यह स्वर्गीय रजिया भट्टी की प्रेरणा से मासिक पत्रिका *हेराल्ड* के अगस्त, 1982 से अप्रैल, 1983 में नौ भागों में धारावाहिक रूप से छपी। आत्मकथा में 1857 से 1983 तक की घटनाओं का ज़िक्र है जिनमें भारतीय मुसलमान समाज, निजी पारिवारिक स्थितियाँ, नवजागरण और समाज-सुधार के मुद्दे, हिंदुस्तान-पाकिस्तान का विभाजन, सिनेमा में बेगम ख़ुर्शीद मिर्ज़ा का जाना, उनकी लोकप्रियता, सामाजिक सेंसरशिप के दबाव जैसी चर्चाएँ प्रमुख हैं। ख़ुर्शीद मिर्ज़ा ने देश-विभाजन के बाद पाकिस्तान जाने का निर्णय किया, लेकिन आत्मकथा में वे स्वयं को पीछे छूट गये भारतीय सदस्य के रूप में देखती हैं। वे जब भी छुट्टियों में अलीगढ़ आतीं, कराची की भीड़-भाड़ को भूल जातीं। आत्मकथा में उन्होंने अपने पिता शेख़ अब्दुल्ला के स्त्री-शिक्षा संबंधी प्रयासों का ज़िक्र भी विस्तार से किया है। दरअसल यह आत्मकथा एक तरह का सामाजिक-ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। एक साथ तीन पीढ़ियों और बदलते हिंदुस्तान और पाकिस्तान की कहानी है। परदे को लेकर जो विमर्श इस आत्मकथा में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 1904 में शेख़ अब्दुल्ला ने जो *रिसाला ख़ातून* शीर्षक पत्रिका निकाली उसमें मुसलमान स्त्रियों द्वारा किये गये पर्दा-विमर्श का ज़िक्र विस्तार से ख़ुर्शीद मिर्ज़ा करती हैं। वे बताती हैं कि जब मुसलमान लड़कियों की शिक्षा के पक्ष में उनके पिता ने कई ठोस प्रयास करने शुरू किये तो कई औरतों ने रिसाले में परदे को सामाजिक सुरक्षा से जोड़ते हुए परदे के पक्ष में पत्र लिखे। कई आभिजात्य स्त्रियाँ अपनी लड़कियों के स्कूल में भेजने को इसलिए तैयार नहीं थीं क्योंकि वहाँ नीचे तबक़े से भी लड़कियाँ आएँगी और फिर उनके आभिजात्य का क्या होगा। एक लम्बे समय तक स्त्री-शिक्षा का मुद्दा बहस का विषय रहा, फिर लोगों की रूढ़ धारणाओं में परिवर्तन आने लगे और 1927 तक आते-आते लड़कियों का स्कूल इंटरमीडिएट कॉलेज के स्तर पर पहुँच गया। इसमें इस्मत चुग़ताई जैसी हस्तियों ने शिक्षा ली थी। ख़ुर्शीद मिर्ज़ा इस बात पर बल देती हैं कि लड़कियाँ शेक्सपीयर के *अ मिडसमर नाइट्स ड्रीम* को पढ़ने के साथ-साथ बास्केटबाल और बेसबाल भी खेलती थीं। ख़ुर्शीद मिर्ज़ा का फ़िल्मों को अपना क़रियर बनाना इस बात को दर्शाता है कि मुसलमान समाज में आधुनिक चेतना का आगाज़ हो रहा था। मुसलमान औरतों की ज़िंदगी कैसे भारत में बदलाव की ओर बढ़ रही थी, यह पुस्तक उसका मुकम्मल बयान करती है। कैसे आज़ादी की लड़ाई उन्हें सामाजिक समारोहों में शामिल होने और स्वयं को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दे रही थी, जिसकी प्रक्रिया बहुत धीमी थी।

[47] ज़ोहरा सहगल (2013), वही : 241.

शेख़ अब्दुल्ला ने अपनी बेटियों को ऊँची शिक्षा के लिए विदेश भेजा। ख़ुर्शीद ने दर्ज किया है कि मँझली आपा खातून जहाँ इंग्लैंड की लीड युनिवर्सिटी में पढ़ने के लिए गयीं और बड़ी आपा रशीदजहाँ लेडी हार्डिंग कॉलेज, दिल्ली में पढ़ीं और छोटी मुमताज़ आपा ने इज़ाबेला थाबर्न कॉलेज, लखनऊ से पढ़ाई की। बावजूद इसके इन स्त्रियों को पुरुषों के साथ घूमने–फिरने या एक साथ संगीत सुनने की स्वतंत्रता नहीं थी। ख़ुर्शीद मिर्ज़ा अपने भाई के मित्र जाबिर अली के साथ दोस्ती, प्रेम और विवाह की यात्रा को दिलचस्प ढंग से लिखती हैं, 'मैंने अपने प्रिय भाई हाटू की तर्ज़ पर यह सोचना शुरू कर दिया कि जाबिर की तुलना अन्य किसी से हो ही नहीं सकती। वह राजा भी था और नेता भी। मैंने कभी किसी दूसरे पर ध्यान ही नहीं दिया। हाटू की मित्र–मण्डली में हमारे रिश्ते सभी से दोस्ताना थे, लेकिन जाबिर वह था जो विशिष्ट था। धीरे–धीरे मेरे हाटू भाई मुझसे दूसरी बातों के बारे में भी चर्चा करने लगे, खेल के अलावा, अब जाबिर भी अकेला आने लगा। हाटू भाई ने मुझे बताया कि जाबिर मुझे पसंद करता है। मैं अंदर ही अंदर रोमांचित हो उठती, मगर डर लगता था कि अगर किसी को पता चल गया तो? इसलिए दूसरों की उपस्थिति में मैं उससे परायेपन का व्यवहार करती, उससे लड़ती और उसके घुँघराले बाल खींचती, चिकोटी काटती, उसके चेहरे या नाक पर साबुन मल देती और ऐसा ही बहुत कुछ। वह गर्मियों में हमारे साथ माथेरान आया था। हम पूरे दिन साथ रहते एक–दूसरे को चिढ़ाते रहते, मुझे जाबिर के हाव–भाव से यह अहसास होने लगा कि वह मेरे बारे में क्या सोचता है।'[48]

संस्मरण में ख़ुर्शीद जहाँ ने अपनी बड़ी बहन रशीदजहाँ जो प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ी थीं, के बारे में विस्तार से हमीदा सैय्यादुज्ज़ाफ़र के हवाले से लिखा है, 'शुरू से ही उसमें विद्रोही चेतना बहुत थी। बहुत कम उम्र में ही उसमें सामाजिक अन्याय और ग़ैर–बराबरी के प्रति अवहेलना का भाव था। पिता और माँ के समाज–सुधार कार्यक्रमों से सम्बद्ध होने के कारण भी उसमें सामान्य जन से ख़ुद को जोड़ कर देखने का भाव था।' 1931–32 में महमूदुज्ज़ाफ़र, सज्जाद ज़हीर, अहमद अली और रशीदजहाँ की मुलाक़ात लखनऊ में हुई, इन सबमें सामाजिक अन्याय और ग़ैर–बराबरी के प्रति विद्रोही चेतना थी और समाजवादी विचारधारा के प्रति विश्वास था। रशीदजहाँ ने वहीं पर महमूदुज्ज़ाफ़र से प्रेम–विवाह किया। उन दोनों का घर मज़लूमों और ज़रूरतमंदों के लिए हमेशा खुला रहता था। हमीदा सैय्यादुज्ज़ाफ़र ने भी दर्ज किया, 'मेरी शादी के वक़्त तक रशीदजहाँ ने अपने आपको सभी भौतिक वस्तुओं से काट लिया था, पैसा, सम्पत्ति, निजी लाभ सब कुछ से। वह बिना किसी लगाव के अपनी कोई भी चीज़ दूसरों को देने के लिए तैयार रहती। उसका घर एक कम्यून बन गया था, जहाँ जाति, धर्म, वर्ग किसी भी तरह का कोई भेदभाव नहीं था। उसके घर में जाति से चर्मकार लड़के के काम करने पर कुछ हिंदू मित्रों को आपत्ति थी जिसके जवाब में रशीदजहाँ ने कहा— वह लड़का बहुत से ऊँची जात वाले हिंदुओं की अपेक्षा साफ़–सुथरा है, तुम्हें अगर वह पसंद नहीं है तो तुम मेरे घर में भोजन मत करो।'

ख़ुर्शीद मिर्ज़ा रशीदजहाँ को उनके प्रगतिशील विचारों और व्यवहार के लिए स्मरण करती हैं कि गर्भाशय के कैंसर से मरते वक़्त रशीद का कहना था कि उसके शरीर को दफ़्नाने से अच्छा है कि उसे मेडिकल कॉलेज में प्रयोग के लिए दे दिया जाए। रशीदा के पति ने पत्नी की मृत्यु के बाद *क्वेस्ट फॉर लाइफ़* शीर्षक संस्मरणात्मक किताब में रशीदा की बीमारी और इलाज के लिए मास्को जाने के दिनों का सविस्तार वर्णन किया।[49] बेगम ख़ुर्शीद मिर्जा ने इस किताब में यह बताया है कि कैसे भोपाल की बेगम के सहयोग से पिता ने अलीगढ़ में लड़कियों के लिए स्कूल बनाया और सैयद अहमद ख़ाँ की

[48] बेगम ख़ुर्शीद मिर्ज़ा (2005) : 105–106.

[49] हमीदा सैय्यादुज्ज़ाफ़र (1996).

नाराज़गी के बावजूद स्त्री शिक्षा के ये आरम्भिक प्रयास कैसे बढ़ते गये। 1857 से 1983 के लम्बे समय को समेटती यह किताब ख़ुर्शीद मिर्ज़ा की आपबीती भी है, जिसमें भारतीय मुसलमान स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा प्रथा के साथ बतौर अभिनेत्री ख़ुर्शीद (चित्रपट पर रेणुका देवी के नाम से मशहूर) के जीवनानुभवों का ब्योरा पाठक को मिलता है।

ख़ुर्शीद ने अपने घर में एक छोटे स्कूल की शुरुआत से स्त्री-शिक्षा के आगाज़ का ज़िक्र किया है जिसमें घर की बड़ी लड़की रशीदजहाँ समेत कई लड़कियों ने पर्देदारी में ही सही, पढ़ने के लिए जाना शुरू किया, शेख़ अब्दुल्ला और उनकी बेगम के प्रयास से धीरे-धीरे छात्राओं की संख्या में इज़ाफ़ा होने लगा। शेख़ अब्दुल्ला जो भी देशी-विदेशी पत्र-पत्रिकाएँ मँगवाते, रशीदजहाँ उन्हें बहुत दिलचस्पी से पढ़तीं। इन छोटी लड़कियों को शेक्सपीयर पढ़ना भी बहुत पसंद था। हेड मिस्ट्रेस मिस हाज़रा ने भी इन्हें खूब प्रभावित किया। उन्हीं के माध्यम से स्वदेशी, होमरूल आंदोलन, 1905 के बंग-भंग के ख़िलाफ़ विद्रोह के साथ रवींद्रनाथ, बंकिम आदि के लेखन से नयी पीढ़ी की लड़कियाँ परिचित हुईं। राष्ट्रवादी नेताओं मौलाना मुहम्मद अली और शौक़त अली की माँ बी अम्मा के अलीगढ़ आने पर, रशीदजहाँ जो उस समय मात्र 14 वर्ष की थी, उनसे मिलने के लिए बेचैन हो गयी। अंत में बी अम्मा से मिलने की अनुमति रशीदजहाँ को एक अध्यापिका के साथ मिली। मुलाक़ात हुई और रशीदजहाँ खूब उत्साह के साथ घर लौटी, पर बदले मन से। गाँधी के प्रति श्रद्धा ने उसमें सिर्फ़ खादी पहनने का उत्साह पैदा किया। तबसे उसने सिर्फ़ खादी पहनी। परिवार में भी उसके इस फ़ैसले पर किसी ने कोई आपत्ति नहीं की। आपा बी ने बहुत पहले आयुर्विज्ञान की पढ़ाई के लिए घर छोड़ दिया। वह स्त्री-रोग विशेषज्ञ बनी, कथा साहित्य के क्षेत्र में भी उसने खूब नाम कमाया। 1927 में जब मैंने आपा बी को देखा तो वे खूब फ़र्राटेदार अंग्रेज़ी बोलती थी, 'उसे देखना एक आश्चर्य था ... शायद यह उसी साल की बात है, आपा बी छुट्टियों में घर आयी थीं। माँ ने हमारे घने बालों से, जिनमें जुएँ भरी रहती थीं हार मान ली थी। आपा बी (रशीदजहाँ) हर बार की तरह त्वरित समाधान के साथ मौजूद थीं। उन्होंने हमारे बालों में किरोसीन तेल लगा दिया और लम्बे बालों को काट दिया। उनके अपने बाल पहले से ही कटे हुए थे जो मुझे बहुत पसंद थे और अब हमने भी लम्बी, घनी कसी हुई चोटियों को अलविदा कहा। अंततः यह भी तो एक मुक्ति ही थी।'[50] बदलते भारत में मुसलमान औरतों की आज़ादी के मुद्दे पर ख़ुर्शीद मिर्ज़ा बेबाक टिप्पणी करती हैं उनका मानना है कि राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर चैतन्य भारत में उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सामाजिक मेल-मिलाप के मौक़े तो मिल रहे थे, लेकिन यह प्रक्रिया बहुत धीमी थी। बौद्धिक रूप से सचेतन परिवारों की संख्या कम थी जो शेख़ अब्दुल्ला की तरह अपनी बेटियों को विदेश में तालीम हासिल करने भेजते।

■■■

डॉटर ऑफ़ द ईस्ट पाकिस्तान की प्रधानमंत्री रह चुकी बेनज़ीर भुट्टो की आत्मकथा है, जो *मेरी आपबीती* शीर्षक से हिंदी में अनूदित हुई। यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। आत्मकथा अपने ख़ानदान, पिता ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो को 1979 में तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक़ द्वारा फाँसी दिये जाने की घटना के इर्द-गिर्द, अपना राजनीतिक जीवन और पाकिस्तान में लोकतांत्रिक चुनाव-प्रक्रिया के हनन और उसके विरोध में फिर-फिर उठ खड़े होने की चुनौतियाँ झेलती बेनज़ीर के जीवन के बहुत से अनछुए पहलू सामने लाती है जो पाठक की राजनीतिक समझ को साफ़ करते हैं और साथ ही दक्षिण एशिया के देश में धर्म, राजनीति, सत्ता और फ़ौजी शासन के समीकरण से टकराते लोकतंत्र की दशा और दिशा की जानकारी भी देते हैं। पिता की मृत्यु के बाद पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी की

---

[50] बेगम ख़ुर्शीद मिर्ज़ा (2005) : 90.

कमान बेनज़ीर भुट्टो ने सँभाल ली। वे 1981 के दौरान पाकिस्तान में तीन महीने नज़रबंद रहीं। इसके बाद वे इंग्लैंड में निर्वासन में रहीं। अपने छोटे भाई शाहनवाज़ को दफ़नाने के लिए वे पाकिस्तान लौटीं। लाखों की संख्या में जनता ने उनका स्वागत किया, जनता जिया उल हक से तंग आ चुकी थी और बेनज़ीर भुट्टो में पिता जुल्फ़िकार अली भुट्टो की छवि देखती थी। बेनज़ीर को फिर से जेल में बंद कर दिया गया। आत्मकथा में बेनज़ीर अपने जीवन के उन वर्षों को याद करती हैं जब उन पर कड़े पहरे थे। पहरेदारिन के बारे में वे लिखती हैं, 'चाहे मैं आ रही होऊँ, या बाहर जा रही होऊँ। वह बेहद कठोर थी, कोई सहानुभूति नहीं। मुझे लगता था कि हुक़ूमत ने जानबूझ कर उसे मुझ पर तैनात कर रखा था। वह बहुत नीच लगती थी, वैसी ही जैसी घड़ी और अँगूठी उतरवा कर वापस न करने वाली। उसकी नज़र से बचने के लिए कुछ भी बहुत छोटी चीज़ नहीं थी ... 'मैं तलाशी नहीं दूँगी, मैं तलाशी दूँगी ही नही', मैं चीखी, और कार से दूर जाने लगी ... मैं जब जेल में अपने पिता से मिलने गयी तब भी तलाशी हुई, वहाँ से बाहर निकलते समय मेरी तलाशी ली गयी, जब मैं अपनी माँ के पास दूसरी जेल में गयी, तब भी मेरी तलाशी ली गयी, आते समय फिर ... मेरी बहुत बार तलाशी हो चुकी है, अब बस ... बहुत हुआ।'[51]

बेनज़ीर की आत्मकथा की विशेषता है कि वह एक राजनीतिक स्त्री की आत्मकथा होते हुए भी अपने-आप में किसी आम स्त्री की आत्मकथा मालूम देती है। मसलन आत्मकथा में उन्होंने अपने बच्चों को लेकर, अपने स्वास्थ्य को लेकर जो चिंताएँ व्यक्त की हैं वे देश की चिंता के समानांतर चलती रहती हैं, एक साधारण-सी पितृविहीन लड़की, एक चिंतित माँ, एकाकी राजनीतिज्ञ की अनेकानेक छवियाँ पाठक के सामने कौंध जाती हैं, लेकिन सब पर हावी रहती है व्यावहारिकता- लोकतंत्र की चिंता— देश के साथ उनका जुड़ाव। पुस्तक की भूमिका में वे लिखती हैं :

> मैंने यह ज़िंदगी ख़ुद नहीं चुनी, ज़िंदगी ने मुझे चुना। पाकिस्तान में जन्मी, मेरी ज़िंदगी बहुत उतार-चढ़ाव से भरी रही, उसमें दुःख-विपत्तियाँ हैं तो कामयाबी के झण्डे भी फहराए हैं ... पाकिस्तान कोई मामूली देश नहीं है, न ही मेरी ज़िंदगी कोई सीधी-सपाट ज़िंदगी है। मेरे पिता और दो भाई मार दिये गये। मेरी माँ, मेरे पति और मुझे ख़ुद भी जेल में बंद कर दिया गया। मैंने कई-कई बरस का देशनिकाला झेला। इन तमाम दुःख-मुसीबतों के बावजूद, मैं ख़ुद को ख़ुशनसीब मानती हूँ। मैं ख़ुशनसीब इसलिए हूँ क्योंकि मैं परम्पराओं को तोड़ते हुए किसी मुसलमान देश में, लोकतांत्रिक चुनाव के ज़रिये पहली प्रधानमंत्री बन सकी। यह चुनाव उस बेहद गर्म बहस और विवाद के बीच हुआ था, जो इस्लाम के मुताबिक़ औरतों की भूमिका नहीं तय कर पा रहा था। इस चुनाव ने यह साबित कर दिया था कि एक मुसलमान औरत, देश की प्रधानमंत्री बनकर देश की अगुवाई कर सकती है और उसे देश के सारे मर्द और औरतें अपनी रज़ामंदी दे सकते हैं ... इस दुनिया में बहुत कम लोगों को यह मौक़ा मिल पाता है कि वे इस समाज में कुछ बदलाव ला सकें, देश में आधुनिकता की राह बना सकें और मामूली सुविधाओं के होते हुए भी औरतों के बारे में घिसे-पिटे ढर्रे को तोड़ सकें और उन तमाम लोगों को यह उम्मीद दिला सकें कि बदलाव का सपना उनके लिए भी सच हो सकता है।[52]

बेनज़ीर भुट्टो की यह आत्मकथा अपनी सीमाओं में बहुत ही सुरक्षित जीवन जीने वाली लड़की की जीवन-यात्रा की कथा है जिसने रेडक्लिफ़ और ऑक्सफ़र्ड में शिक्षा ग्रहण की। राजनीतिक परिवार के संस्कारों ने उन्हें साहस और सूझ-बूझ दी। नज़रबंदी, अपने ही बच्चों से अलग रहने की विवशता, पाकिस्तानी सेना का अधिनायकत्व, कारावास की भीषण यातनाएँ, जनरल मुशर्रफ़ के शासनकाल तक उन्होंने राजनीतिक रूप से चैतन्य जीवन जिया। उन्होंने लिखा :

> 2007 में पाकिस्तान में एक अनिश्चित भविष्य की तरफ़ लौटते वक़्त न सिर्फ़ अपने और अपने देश के बल्कि सारी दुनिया के लिए मौजूद ख़तरों से अच्छी तरह वाक़िफ़ हूँ। हो सकता है कि जब मैं

[51] बेनज़ीर भुट्टो (2000) : 144.

[52] वही : 9.

> हवाई अड्डे पर उतरूँ तो गोलियों की शिकार हो जाऊँ। पहले भी अल-क़ायदा मुझे मारने की कोशिश कर चुका है। हम यह क्यों सोचें कि वह ऐसा नहीं करेगा? क्योंकि मैं अपने वतन में लोकतांत्रिक चुनावों के लिए लड़ने को लौट रही हूँ और अल-क़ायदा को लोकतांत्रिक चुनावों से नफ़रत है। लेकिन मैं तो वही करूँगी जो मुझे करना है और मैं पाकिस्तान की जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं में साथ देने का अपना वादा पूरा करने का पक्का इरादा रखती हूँ।

इस पत्र के कुछ ही महीने बाद 27 दिसम्बर, 2007 में बेनज़ीर भुट्टो को रावलपिंडी में मार दिया गया। उनकी आत्मकथा के बारे में *संडे टाइम्स* ने लिखा— 'यह एक बहुत बहादुर औरत की आपबीती है जिसने अनेक चुनौतियाँ स्वीकार कीं, जिसके परिवार के अनेक लोग शहीद हुए, जिसने पाकिस्तान की आज़ादी की मशाल जलाए रखी, बावजूद तानाशाही के विरोध के।'[53]

■■■

काग़ज़ी है पैरहन इस्मत चुग़ताई की आत्मकथा है जिसका देवनागरी में लिप्यंतरण इफ़्तिखार अंजुम ने किया। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में परदेदार कुलीन घराने की मुसलमान स्त्री के जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज़ होने के कारण इस्मत चुग़ताई को इस पुस्तक ने मरणोपरांत बहुत लोकप्रियता दिलवायी। हालाँकि इसे सीधे-सीधे आत्मकथा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें जन्म से आगे की घटनाएँ उस ढंग से सिलसिलेवार नहीं हैं। चौदह अध्यायों में बँटी इस आत्मकथा का धारावाहिक रूप में *आजकल* उर्दू पत्रिका में (मार्च, 1969 से मार्च, 1970 तक) प्रकाशन हुआ। इस्मत चुग़ताई की मृत्यु 1991 में हुई और उसके तीन वर्ष बाद उर्दू पत्रिका में छपे उन टुकड़ों को एकत्र करके पुस्तकाकार छापने का निर्णय लिया गया। परम्परागत अर्थों में आत्मकथा न होते हुए भी *काग़ज़ी है पैरहन* टुकड़ों-टुकड़ों में इस्मत की जीवन स्मृतियों को सामने लाती है जिसका अंग्रेज़ी तर्जुमा करने वाले एम. असाउद्दीन का कहना है कि इस्मत समाज में व्याप्त लैंगिक विभेद और समाज की सामंती-पितृसत्तात्मक संरचना से भली-भाँति परिचित थीं। जिस समाज में वे रहती थीं उसके दोहरे चरित्र का पर्दाफ़ाश और विरोध करने के लिए वे जो कर सकती थीं किया। *आजकल* ही वह पत्रिका थी जिसमें अनीस किदवई का आत्मकथ्य *ग़ुबार-ए-क़ारवाँ* छपा था। इस पत्रिका ने कई लेखकों के आत्मकथ्य प्रकाशित किये।

काग़ज़ी है पैरहन उन आत्मकथ्यों में से है जो बताते हैं कि रचना का आत्म बहुस्तरीय होता है और स्मृतियाँ ठीक उस ढंग से नहीं आतीं जैसा जीवन का सिलसिला होता है। बतौर रचनाकार, बतौर स्त्री और बतौर मुसलमान होने के नाते आत्मकथा लेखन के अनंतर जो त्रिस्तरीय चुनौतियाँ इस्मत के सामने आती हैं, उनके बारे में वे बताती हैं। लेखकीय इयत्ता और आत्म के पुनर्प्रस्तुतीकरण के उत्कृष्ट उदाहरण के नज़रिये से इस आत्मकथा को देखा जाना चाहिए। इस्मत चुग़ताई के लेखन को उर्दू गद्य की आधुनिक लयकारी की दृष्टि से भी सराहा गया है। इस्मत ने पढ़ने-लिखने और जीवन में अपना मुक़ाम हासिल करने के लिए किस तरह मुसलमान परम्परावादी समाज का सामना किया। उनकी ज़िद ही थी जिसने उनके भीतर लैंगिक विभेद के प्रति विद्रोह पैदा किया, और ऐसे मुद्दों पर लिखवाया जिसमें समाज के रसूख़दार लोगों का जीवन प्रतिम्बिबित होता था। लेखन-प्रक्रिया के बारे में उनका कहना है, 'लिखते हुए मुझे ऐसा लगता है जैसे पढ़ने वाले मेरे सामने बैठे हैं, उनसे बातें कर रही हूँ और वे सुन रहे हैं। मेरे कुछ हम ख़याल हैं, कुछ मोतरिज़ हैं, कुछ मुस्कुरा रहे हैं, कुछ गुस्सा हो रहे हैं। कुछ का वाक़ई जी जल रहा है। अब भी मैं लिखती हूँ तो यही अहसास छाया रहता है कि बातें कर रही हूँ।'[54]

बचपन के बारे में इस्मत लिखती हैं :

> मेरी अम्मा को मेरी हरकतें एक आँख न भाती थीं। मेरे अंजाम की उन्हें सख़्त फ़िक्र थी। ये मर्दमार बातें औरतों को जेब नहीं देतीं। वे इतनी गहराई से न इन बातों को समझती थीं और न समझा

[53] वही : ब्लर्ब.

[54] इस्मत चुग़ताई (1998).

> सकती थीं, मगर मुझे मालूम हुआ कि मेरी अम्मा क्यों डरती थीं। यह मर्द की दुनिया है, मर्द ने बनाई और बिगाड़ी है। औरत एक टुकड़ा है उसकी दुनिया का जिसे उसने अपनी मुहब्बत और नफ़रत के इज़हार का ज़रिया बना रखा है। वह उसे मूड के मुताबिक़ पूजता भी है और ठुकराता भी है। औरत को दुनिया में अपना मुक़ाम पैदा करने के लिए निस्वानी हर्बों से काम लेना पड़ता है। सब्र, होशियारी, दानिशमंदी, सलीक़ा जो मर्द को उसका मुहताज बना दे। शुरू ही से लड़के को मुहताज बनाना कि वह अपना बटन टाँकते शरमाए। रोटी ठोकते डूब मरे। आसान-आसान छोटे-छोटे काम जो नौकर कर सकते हैं, अपने हाथ से करना। उसकी ज़्यादतियों को सर झुका कर सहना कि वह शर्मिंदा होकर क़दमों पर गिर पड़े।[55]

इस्मत स्त्री की इस गुलाम मानसिकता से अपने ढंग से टकराती हैं। बहुत कम उम्र में लैंगिक विभेद को परख लेती हैं। वे रशीदजहाँ के बारे में लिखती हैं, 'रशीदजहाँ ने मुझे कमसिनी में ही बहुत मुतास्सिर किया था। मैंने उनसे साफ़गोई और खुद्दारी सीखने की कोशिश की।'[56] इस्मत की आत्मकथा की विशेषता है साफ़गोई और बिना लाग-लपेट के अपनी बात को कहने की कोशिश। वे अपने बचपन के दिनों से लेकर भाइयों के साथ पढ़ाई-लिखाई के अनुभवों के साथ यौनिकता के मुद्दों पर बड़े ही बेबाक अंदाज़ में बात करती हैं। वे धर्म, राजनीति, परदे के मुद्दों पर पिता, भाइयों, पुरुष रिश्तेदारों से बात करती हैं ताकि जान सकें कि आधी आबादी, जो बाहर की दुनिया से अच्छी तरह वाकिफ़ है, वह अंतरमहल की समस्याओं पर क्या सोच रखती है।'लड़कों के लिए यह आम रवैया मुनासिब समझा जाता है, मैं लड़की थी। अम्मा, ख़ालाएँ, फूफियाँ, चचियाँ हैबतज़दा थीं। औरतज़ात को ये मुँहज़ोरियाँ जेब नहीं देतीं। ससुराल में कैसे गुज़र होगी? समाज ने औरत का एक ठिकाना मुक़र्रर कर दिया है, उससे बाहर क़दम रखा तो पैर छाँट दिये जाएँगे। ज़्यादा तालीम भी बलाए जान होती है। हमारे यहाँ कौलो-फ़ेल पर पाबंदी नहीं थी। मगर यह शर्त सिर्फ़ मर्दों तक थी। मुझे इन हरकतों पर डाँट खानी पड़ती थी।'[57]

लैंगिक विभेदयुक्त समाज और स्त्री के लिए सीमाएँ तय करता समाज इस पुस्तक में सब कहीं है। बड़े ही सहज ढंग से यह पुस्तक मुसलमान समाज और औरतों की इच्छाओं, कामनाओं को अनुशासन में रखती चली आती व्यवस्थाओं का पर्दाफ़ाश करती चलती है। परदे और मुसलमान स्त्री होने के कारण लादी गयी पाबंदियों की फ़ेहरिस्त लम्बी है, इसलिए उनसे टक्कर लेकर अपनी इच्छा से अपने जीवन को जीने की छूट लेने की चुनौतियाँ और संघर्ष भी बड़े रहे होंगे— यह आत्मकथा औरतों की चुप्पी और उनके कथन की दरारों को चौड़ा करके दिखाती है। इनमें विभिन्न तबक़ों से आयी हुई औरतें शामिल हैं, जिनकी आवाज़ दबते-दबते गूँगी हो गयी है। पति की कृपा पर उनकी यौनेच्छाएँ निर्भर हैं, अभिकर्ता के रूप में वे अपनी इस स्थिति को अस्वीकार करती हैं। वे हर तबक़े में दबी-कुचली और शोषित हैं, लेकिन दिशाहारा भी हैं।

■■■

उजाला दे चराग़-ए-रहगुज़र आसाँ नहीं होता,
हमेशा हो सितारा हमसफ़र आसाँ नहीं होता। (अदा जाफ़री)

इस्मत चुग़ताई की आत्मकथा के बरअक्स अदा जाफ़री की आत्मकथा को देखना दिलचस्प है। विभाजन के बाद पाकिस्तान जाकर बसने वाली अदा जाफ़री ने ग़ज़लकार के तौर पर नाम कमाया, लेकिन विवाह के पहले उत्तर प्रदेश के बदायूँ में रहते समय उन्हें लोगों की आलोचना का शिकार होना पड़ा, क्योंकि मुसलमान ख़ानदान स्त्री को पर्दे से बाहर आने नहीं देना चाहता था। *जो रही वो बेखबरी*

---

[55] वही : 14.
[56] वही : 15.
[57] वही : 17.

रही (1995) शीर्षक आत्मकथ्य में 1924 में पैदा हुई अदा जाफ़री जेंडर और स्त्री यौनिकता के प्रश्न पर अपनी समकालीनों से भिन्न हैं। इनसे पहले आत्मकथाएँ लिखने वाली अधिकतर मुसलमान स्त्रियाँ, शिक्षित, अभिजात अथवा राजनीतिक सक्रियता रखने वाले परिवारों से सम्बद्ध थीं। उनका लिखना उन्नीसवीं सदी के स्त्री-सुधारों और स्त्री शिक्षा के कार्यक्रमों का ही एक विस्तार था। या यूँ कहें कि आत्मकथा लेखन के माध्यम से वे राष्ट्रीय आख्यान का अंग बन रही थीं और मुसलमान आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करते हुए अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक भूमिका अदा करने का प्रयास कर रही थीं। इसलिए उनके आत्माख्यानों में विषय वैविध्य के साथ-साथ एक विशिष्टता बोध भी दिखाई देता है। इनमें से कुछ यौनिकता के प्रश्नों पर अतिरिक्त मुखर हैं, मसलन इस्मत चुग़ताई। तो कुछ के लिए प्रेम, पति, प्रेमी और यौनेच्छा पर एक पंक्ति भी लिख पाना मुमकिन नहीं हो पाया। कुछ पर ख़ुद की सेंसरशिप हावी है, कुछ पर इस्लाम की और कुछ के साथ परिवार, समाज, पाठक का भय चलता है जिसे उनके टेक्स्ट की दरारों से ही समझा जा सकता है। इसके लिए अदा जाफ़री के आत्मकथ्य को देखा जाना चाहिए जो एक साधारण परिवार से सम्बद्ध थीं और जिनका बचपन से एक ही सपना था कि वे अपनी खुली आँखों से दुनिया देखें। पर्दा और लैंगिक विभेदवादी परिवार और समाज में उन्हें ऐसी कोई छूट मिलनी सम्भव नहीं थी। वे लिखती हैं कि स्वतंत्र होने के लिए उन्होंने एक उच्च पदस्थ अधिकारी से विवाह किया। विवाह के बाद ही सम्भव हो पाया कि वे पति के साथ देश-दुनिया घूमें और नये-नये लोगों से मिलें-जुलें। लेकिन बतौर कवयित्री एक लम्बा कैरियर गुज़ारने के बाद उम्र के इकहत्तरवें साल में ही वे आत्मकथा लिखने का साहस जुटा पायीं।[58]

इस्मत चुग़ताई की समकालीन होने के बावजूद पाकिस्तान के माहौल और बचपन के अनुकूलन ने उन पर सेंसरशिप इस क़दर तारी रखी कि वे परिवार के किसी पुरुष सदस्य पर टिप्पणी से बचती हैं। यही नहीं, वे जिन भी पुरुषों का ज़िक्र करती हैं उन्हें 'भाई' कहकर सम्बोधित करती हैं मानो पाठक की कल्पना पर लगाम लगा देना चाहती हों कि कहीं उन्हें ऐसी स्त्री न समझ लिया जाए जिसके मित्र पुरुष थे। कविता से प्रभावित हो कर ही उनके पति ने विवाह-प्रस्ताव रखा था, लेकिन वे कहती हैं कि विवाह के बाद मिली स्वतंत्रता, रचना के लिए अनुकूल माहौल ने भी बचपन के दिनों की परतंत्रता का मलाल उनके मन से दूर नहीं किया। पूरे आत्मकथ्य में उनका स्वर क्षमा-याचना का है, जैसे लिखना उनका अधिकार न हो, और यह अवसर दिये जाने पर वे परिवार, समाज की शुक्रगुज़ार हों। समकालीन पाकिस्तानी राजनीतिज्ञों की प्रशंसा उनके आत्मकथ्य में रेखांकित करने योग्य है जिसमें ग़ुलाम इश्हाक ख़ान, बेनज़ीर भुट्टो, नवाज़ शरीफ़ शामिल हैं। आत्मकथ्य के अंतिम अध्याय में अदा जाफ़री ने स्वीकार किया है कि उन्होंने उन लोगों का ज़िक्र ही छोड़ दिया है जो जीवन में कभी भी उनके लिए तकलीफ़ का सबब बने हैं। वे लिखती हैं, 'ऐसा नहीं है कि मुझे किसी से चोट नहीं पहुँची। जीवन में ऐसे बहुत से लोग आते ही हैं जिनसे टकराव होता ही है, इनकी गिनती दोस्तों से ज़्यादा होती है। तकलीफ़देह बातों को याद करने का क्या फ़ायदा। ज़िंदगी बहुत छोटी है और माफ़ करना मेरे अल्लाह की फ़ितरत।' अदा जाफ़री के आत्मकथ्य में स्त्री-यौनिकता के मुद्दे पर बात करने से हर सम्भव बचा गया है। उनकी कोशिश रही है कि पाठक समझे कि उनका पूरा जीवन बहुत ही नैतिक दृष्टि, सामाजिक मान-मर्यादा के निर्वाह के साथ जिया गया है। ऐसा नहीं कि उनके कुछ सपने नहीं होंगे— सपने नहीं होते तो वे अपनी कविता में इतने विविधमुखी रंगों का प्रयोग कैसे कर पातीं। यद्यपि वे घरेलू परिधि में बँधी हुई हैं लेकिन स्त्री-स्वाधीनता के वैश्विक परिदृश्य से नितांत अपरिचित नहीं हैं। वे पूरा अध्याय सिल्विया प्लाथ पर लिख डालती हैं और पितृसत्तात्मक जकड़बंदी से निकलने का प्रयास करने वालियों की तारीफ़ भी करती हैं।

---

[58] https://books.google.com/books?id=1lTnv6o-d_oC&pg=PA352.

जहाँ तक उनके निज का प्रश्न है वे सत्रह साल तक इसलिए कविता लिखना छोड़ देती हैं क्योंकि उनपर गृहस्थी के दायित्व थे। घर के दायरे से बाहर निकल कर वे कविता में अपनी मुक्तिकामना अभिव्यक्त करती हैं। अदा जाफ़री को उनके द्वारा अपनाई गयी विधाओं और काव्यात्मक प्रयोगों के लिए जाना जाता है। इसी वजह से अपने समकालीनों में वे ईर्ष्या और आलोचना का पात्र भी बनीं। लेकिन स्त्रीवादी लेखन और बोल्डनेस की दृष्टि से उनकी आत्मकथा बहुत नरम है। उनका स्वर स्त्रीवाद की अन्य पक्षधरों की तरह बुलंद नहीं है। फिर भी वे पितृसत्ता के विपक्ष में खड़ी दीखती हैं। उनके बारे में यशस्वी कहानीकार इंतज़ार हुसैन का कहना है कि बदायूँ जैसी छोटी जगह पर रह कर उन्होंने ग़ज़ल के क्षेत्र में जो नाम कमाया वह अविस्मरणीय ही है। उनका लिखना ही अपने-आप में पुरुष-सत्ता को चुनौती थी, क्योंकि अदा जाफ़री ने सिर्फ़ ग़ज़लें ही नहीं कहीं, बल्कि कविता के कई प्रयोग भी किये। इसके बावजूद उनकी आवाज़ में उस दौर की स्त्रीवादियों की तरह सीधे कह देने के साहस का अभाव हम पाते हैं, जबकि जिस समय वे लिख रही थीं इस्मत चुग़ताई की कहानी 'लिहाफ़' चर्चा का विषय बन चुकी थी।

अदा भी खुल कर अकेले घूमने की आज़ादी, नयी-नयी जगहें देखने की तमन्ना से लबरेज़ दीखती हैं। पति की सरपरस्ती में युरोप और अमेरिका घूमने का मौक़ा मिलने पर पर्दे के भीतर ग़ज़ल कहने वाली लड़की अब अपनी बात खुल कर सभा-सोसायटियों में करने लगी। उनका आत्मकथ्य को एक सोद्देश्य पाठ की दृष्टि से देखा जाना चाहिए जो बतौर कवयित्री उनके क़रियर पर उन दबावों की पड़ताल करता है, जिनके कारण वे बीच के सत्रह वर्ष कुछ लिख ही नहीं सकीं। पति की तारीफ़, उनके योगदान को नहीं भूलतीं। पूरे आत्मकथ्य में सुर बहुत मृदु और नपातुला होने के बावजूद जीवन के प्रति असंतोष पाठक की पकड़ में आ ही जाता है। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में उन्हे खुलकर बोलने, घूमने-फ़िरने की आज़ादी नहीं थी। विवाह-पूर्व के इन अनुभवों को वे कभी भुला नहीं पातीं। वे कहीं भी स्त्री-यौनिकता, अपनी इच्छा कामना के बारे में नहीं लिखतीं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वे स्त्री के साथ परम्परागत ढंग से जुड़ी वर्जनाओं और सतीत्व के मानदण्डों को चुनौती देना तो दूर उन पर एक वाक्य लिखने का जोखिम तक नहीं उठाती। हालाँकि ऐसा नहीं है कि वे प्रगतिशील लेखक संघ में शामिल स्त्रियाँ की भूमिका या वैश्विक परिदृश्य से अपरिचित हैं— वे बोल्ड रूप में सामने आ रही स्त्रियाँ की प्रशंसा भी करती हैं अपनी मंद्र आवाज़ को लेकर क्षमा-याचना की मुद्रा में भी हैं। पाठक महसूस कर लेता है कि इस्मत चुग़ताई की समकालीन होने के बावजूद स्त्री-यौनिकता, स्त्री मुक्ति के प्रश्नों पर वे मौन हैं। वे सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत सेंसरशिप का पालन करती हैं, पति, बच्चे, रिश्तेदार किसी को रुसवा करने का ख़तरा नहीं उठाना चाहतीं। इस चुप्पी को आत्मकथ्य की दरारों से होकर समझा जाना चाहिए, वे स्त्रीत्व के सभी कोमल गुणों से भरी हैं। वे स्वयं को सहनशील, परिवार और गृहस्थी, बच्चों के लिए अपनी इच्छाओं का त्याग करने वाली स्त्री के रूप में देखती हैं। वे त्यागमयी स्त्री हैं जो पाकिस्तान का प्रतीक है— जिसके बच्चे उसे छोड़ कर कई दिशाओं में चले गये हैं। उनका आत्मकथ्य 'निज' की आधुनिक परिभाषा से दूर दीखता है। वे देश-विभाजन की पीड़ा, बच्चों के दूर जाकर बसने की तकलीफ़, अतीत की स्मृतियों का बयान करती चलती हैं। जेंडर के मुद्दे पर वे सिर्फ़ अपने पत्नीत्व और मातृत्व की चर्चा करती हैं जिसमें स्त्री यौनिकता पर किसी टिप्पणी का नितांत अभाव है।

अदा जाफ़री के नियंत्रित आत्मकथ्य से ठीक उलट है अतिया दाऊद का आत्मकथ्य *आईने के सामने*, जिसका देवनागरी लिप्यंतरण इजलाल मजीद ने किया। पाकिस्तान के ज़िले नौशेरा में जन्मी अतिया दाऊद सिंधी की प्रमुख कवयित्री हैं। उनकी आत्मकथा में एक बहुत ही साधारण परिवार के अतीत का प्रत्याख्यान है जो बहुत कम उम्र में अपने माँ-बाप को खो देती है, परम्परागत और रूढ़ियों में डूबते-उतराते समाज के कई अक्स अतिया के आत्मकथ्य में देखे जा सकते हैं, जिसकी भूमिका में

अतिया ने अतीत को फिर से मुड़ कर देखने और दोहराने पर मानीखेज़ टिप्पणी करते हुए लिखा :

> सच बात तो यह है कि अगर मैं यह पहले से जानती होती कि ज़िंदगी गुज़ारने से भी जियादह तकलीफ़देह गुज़री हुई ज़िंदगी को दोहराना है तो मैं कभी नहीं लिखती। इस बात का मशवरा मेरे दोस्त आसिफ़ फ़र्रूख़ी ने दिया। गोया यह कि मुझे यह मशवरा देकर जलते हुए शोलों की तरफ़ धकेल दिया। ... मसला यह था कि वो सब लिखते ही उसके बारे में सोचने में ख़ुद अपने जिस्म से निकलकर माज़ी के उस मंज़र में जाकर ठहर जाती थी। जब मेरे बाप की मौत होती तो उस दिन फिर हो जाती जिस दिन मैं लिख रही हूँ। हर अज़ीयतनाक इसी तरह से मुझ पर बीता फिर से ... और मैं फूट-फूटकर रोयी हूँ, तड़पी हूँ, जुदाई की आग में जली हूँ। जब छोटी-सी बच्ची को उसकी भाभी डण्डे से मारती है तो मेरा जिस्म उस अज़ाब को फिर से झेलता रहा, सुलगता रहा। जब वो बच्ची लाल शर्बत की ख़ुशबू सूँघती है, उसको भाभी के डर से पी नहीं सकती तो मेरे अंदर इस क़दर प्यास भड़क उठी कि कितना भी पानी पिया मगर हलक़ में काँटे चुभते ही रहे। इस आपबीती को लिखते हुए मुझमें तब्दीलियाँ भी आयीं। जिन क़िरदारों से नफ़रत थी, अंदर से राख़ की तरह दबी हुई, वो बहुत खुलकर अब महसूस होने लगी। और जो मोहब्बत की दबी-दबी चिंगारियाँ थीं वो शोलों की तरह भड़क उठीं।[59]

अतिया की जीवन यात्रा मुफ़लिसी से गुज़रते हुए स्वयं अपने निर्णय लेकर जीवन में मर्ज़ी से विवाह और बतौर एक्टिविस्ट और कवयित्री अपनी पहचान निर्मित करने की कहानी है। आत्मकथ्य का वैशिष्ट्य है अन्य कथाकारों से अलग हटकर स्पष्ट ढंग से अपनी इच्छा-अनिच्छा, यौन-शोषण के बारे में बिना किसी लाग-लपेट के लिख डालना। निश्चय ही इसके लिए जिस साहस और पारिवारिक समर्थन की ज़रूरत होती होगी वह अतिया के पास है तभी तो वह बचपन में हुए यौन-शोषण को इन शब्दों में अभिव्यक्त करती हैं :

> ... उसने लकड़ियों का ढेर जमा कर लिया। मुझे हैरत नहीं हो रही थी क्योंकि यह आम बात थी। और बच्चों के मुक़ाबले में मुझे लोग ज़्यादा तवज्जो देते थे। मैं भी और दूसरे बच्चे भी इस बात के आदी थे, जब लकड़ियाँ जमा कर चुके तो वह मेरे क़रीब आया और कहने लगा, अब तो तुम ख़ुश हो? मैंने कहा, 'हाँ'। उसने मेरी शर्ट ऊपर कर दी और मेरी छातियों को हाथ से मसलने लगा। मेरी उम्र नौ साल रही होगी और मैं एक कमज़ोर-सी बच्ची थी। कुछ था भी नहीं, मुझे शर्म भी नहीं आयी। मगर उसकी आँखों से मुझे ख़ौफ़ आने लगा। उसकी शक्ल बिल्कुल बदली हुई-सी लग रही थी। ख़ौफ़ के मारे मेरी आवाज़ घुटकर रह गयी। दूसरे बच्चे आ गये ... उसके बाद से मुझे अजनबी मर्दों से डर लगता था।[60]

गाँव में रहते हुए अतिया अपने बचपन के दिनों का ज़िक्र इतने खुलेपन से करती हैं कि लगता नहीं वे किसी धार्मिक, सामाजिक सेंसरशिप से डरती होंगी। स्त्री पर पर्दे की पहरेदारी के सख़्त क़ायदे क़ानून पिछड़े हुए गाँवों में कैसे हैं, इस पर वे लिखती हैं :

> मेरी हमउम्र एक बच्ची जो जिस्मानी तौर पर मुझसे मोटी थी और उसकी छोटी-छोटी-सी छातियाँ निकलने लगी थीं, इसलिए वह अपने गिर्द एक दुपट्टा लपेट लेती थी। एक दफ़ा उसने मुझे राज़दारी से बताया कि उसके घर में एक दाई ख़ाला आती है। वह उसको कमरे के अंदर ले जाकर दरवाज़ा बंद करके एक ख़ास बर्तन जो कि मिट्टी से बना हुआ होता है और उससे जुआर या बाजरे या मकई की रोटी बनाई जाती है, सिंध में जिसको 'थुपनी 'कहते थे, बहुत बेदर्दी के साथ उससे छातियों को मसलती है। उसे बहुत दर्द होता है। उसने बताया कि अम्मा ने कहा है कि अगर उस वक़्त तुम चीख़ोगी या रोओगी तो बहुत मार पड़ेगी। इसलिए डर के मारे मैं रोती भी नहीं हूँ, फ़क़त आँसू बहते हैं और मैं इस तरह तड़पती हूँ। उसने ज़मीन पर लोटते हुए मुझे दिखाया।[61]

---

[59] अतिया दाऊद (2004) : 13.

[60] वही : 46.

[61] वही : 50.

अतिया दाऊद का आत्मकथ्य बहुत कुछ इस्मत चुग़ताई की आत्मकथा का विस्तार लगता है, अतिया बचपने के खेल के बारे में जब लिखती हैं तो अनायास ही पितृसत्ता के छिपे हुए तेवरों को सामने लाने लगती हैं, 'जिस दिन हम घर-घर खेलते उस दिन मेरा ज़रूर लफड़ा हो जाता था। बच्चे इस खेल को ऐसे ही खेलना चाहते थे जिस तरह हक़ीक़त में हमारी ज़िंदगी में होता था और मैं उसमें तब्दीली लाने की कोशिश करती थी। उस खेल के मुताबिक़ घर का एक बड़ा अब्बा होता था, वो सबको डाँटता था। घर के मर्द बाहर से जाकर सौदा, सब्ज़ी वग़ैरह ले आते थे। मगर यहाँ आकर मैं तक़रार करती थी कि बाज़ार से सौदा लेने मैं जाऊँगी। बच्चे कहते थे यह नामुमकिन है। तुम अदी बन कर घर में ख़ाना पकाओगी, झाड़ू दोगी और ये सारे काम करोगी।'[62] इक्कीसवीं सदी में लिखी और प्रकाशित होने वाली महत्त्वपूर्ण आत्मकथाओं में *आईने के सामने* की गिनती होती है।

■■■

हम गुनाहगार औरतें हैं, जो अहले जुबाँ की तमकनत से,
न रौब खाएँ न जान बेचें, न सर झुकाएँ, न हाथ जोड़ें।

बुरी औरत की कथा शीर्षक से उर्दू की क्रांतिकारी लेखिका किश्वर नाहीद ने आत्मकथ्य लिखा, जिसका अंग्रेज़ी तर्जुमा दुर्दाना सुमरू ने *बैड वुमंस स्टोरी* शीर्षक से 2010 में किया। किश्वर नाहीद उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर में पैदा हुईं और 1947 के बाद पाकिस्तान चली गयी थीं। विभाजन और राजनीतिक हलचलों के बीच उन्होंने समाज की प्रारम्भिक छवियाँ ग्रहण कीं। नब्बे के दशक में नाहीद की आत्मकथा ने पाकिस्तान की लेखक बिरादरी में बहुत से विवादों को जन्म दिया जिसे अदा जाफ़री की आत्मकथा के बरअक्स बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

किश्वर नाहीद एक रूढ़िवादी मुसलमान परिवार से सम्बद्ध थी। बचपन से ही पर्दे और बुर्के की बाध्यता में वे कसमसाती रहती थीं। बहुत जद्दोजहद के बाद उन्हें कॉलेज जाने का मौक़ा मिला और तब उन्होंने बग़ैर पर्दे के कक्षा में जाना शुरू किया। लड़कों के साथ मुशायरों, डिबेट इत्यादि में भाग लेने लगीं। कॉलेज की ज़िंदगी ने उन्हें बाहरी संसार से परिचित होने का मौक़ा दिया और उन्होंने कोई मौक़ा हाथ से जाने नहीं दिया। यहाँ तक कि घरवालों की रजामंदी के बग़ैर प्रेम विवाह भी कर डाला, कुछ ही दिनों में दाम्पत्य-कलह शुरू हो गया, जिसका अंत नहीं था। शौहर का जी किश्वर से भर चुका था। वे आत्मकथा में लिखती हैं कि उन्होंने अपने शौहर का जी अपनी तरफ़ पलटने की बहुत कोशिश की, दो बच्चे भी हुए जो अपने पिता के पक्ष में ही थे। 1984 में जब तक पति की मृत्यु नहीं हुई तब तक कलह चलता रहा। *बुरी औरत की कथा* में वे समाज की पितृसत्ता की आलोचना ही सिर्फ़ नहीं करतीं, बल्कि स्त्री के विकास में अवरोधक उस मानसिक अनुकूलन पर बारीक नज़र रखती हैं, जिसका प्रतिनिधित्व अकसर घरेलू औरतें करती हैं जिन्हें पता ही नहीं चलता कि कब वे अपनी आंतरिक संरचना में पितृसत्ता की पोषक एजेंसी के रूप में कार्य करने लगती हैं। वे कामकाजी स्त्री की अपेक्षा कम काम करती हैं और घरेलू राजनीति में कामकाजी औरतों के लिए आलोचक बन जाया करती हैं। अदा जाफ़री से बिल्कुल उलट किश्वर नाहीद उन समस्याओं का चित्रण बेबाकी से करती है जिनका सामना किसी स्त्री को अपनी यौनिकता के कारण करना पड़ता है। इसके लिए वे स्वानुभवों का सहारा लेती हैं, कार्यस्थल पर उन्हें देख कर सेक्सुअल फ़ेवर माँगना, द्वि-अर्थी बातें करना, पत्नी की अनुपस्थिति में धोखे से अपने घर निमंत्रित करना— इन सबका वे बिना किसी लाग-लपेट के ज़िक्र करती हैं।

वे बताती हैं कि बचपन में एक मौलवी द्वारा दैहिक शोषण से वे कैसे बच निकलती हैं। लेकिन बड़ी होने पर कविता, ग़ज़ल लिखने वाली लड़की को साहित्यकार सहयोगी भी नहीं बख़्शते। स्त्री

[62] वही : 53.

वहाँ भी उनके लिए सिर्फ़ एक देह है। पुरुष हर स्थिति में स्त्री के चरित्र को मलिन करता है। वह उसके आमंत्रण को स्वीकार कर ले तो भी, और अस्वीकार कर दे तो भी। वह स्त्री की नकार सहन नहीं कर पाता। किश्वर के चरित्र की धज्जियाँ उड़ाने वाले लोग वे ही थे जिनके साथ किश्वर ने ऐसे-वैसे सम्पर्क से इनकार कर दिया था। स्त्री की समूची आकांक्षा-इच्छा, यौनिकता कैसे हिंसा, संदेह और अपशब्दों में तब्दील हो जाती है— इसे देखने के लिए आत्मकथ्य को पढ़ना चाहिए। एक जगह वे अपने शौहर के बारे में लिख ही डालती हैं, 'ऐसा भी होने लगा कि मैं उसकी जेब और वह मेरे बटुए की तलाशी लिया करता ... वह एक के बाद दूसरी बदलता रहता पर रात को वापस घर लौट आता ... मैं रोया करती लेकिन सीता की पंक्तियों को कभी मैंने दिल से बाहर नहीं किया।'

किश्वर नाहीद ने अपनी मर्ज़ी से इसलिए विवाह किया कि वे एक स्वतंत्र जीवन जी सकें, जैसा चाहें वैसा कर सकें जो कि परम्परागत विवाह में सम्भव नहीं हो पाता। लेकिन इस क्रांतिकारी क़दम ने उनका आगे का जीवन शंका, कलह और अपमान से भर दिया। शौहर नित नयी औरतों से जुड़ने लगा और किश्वर अपने आपको पहले से अधिक विवश और लाचार पाने लगी, यहाँ तक कि उनके बेटे भी पिता के पक्ष में ही खड़े रहे। किश्वर समसामयिक राजनीति पर भी पैनी नज़र रखती हैं, इस दृष्टि से उनकी आत्मकथा एक दस्तावेज़ भी है। वे लिखती हैं, 'पाकिस्तान ने अपने वजूद को औरत के वजूद की तरह तक़सीम होते देखा। ख़ुद को औरत की तरह दौलत की गुलामी में जकड़ा हुआ महसूस किया। आकाओं ने दो सौ साल पुराना खेल फिर दोहराया। अब यह खेल वे ख़ुद नहीं खेल रहे थे बल्कि उसके ज़रख़रीद सियासतदाँ और नौकरशाही खेल रही थी। 1965 में 'छेड़छाड़' आउट ताक़तों को आज़माने का खेल खेला गया। अब शिकार फिर औरतें ही थीं। पाकिस्तान लाल क़िले पर झण्डा लहराने के लालच में 'थैंक यू अमेरिका' से दो-चार हो रहा था।'

किश्वर का बतौर स्त्री यूँ सब कुछ खुल कर अभिव्यक्त कर देना अपने भीतर के भय पर विजय पाने की प्रक्रिया है। इस्लामिक देश में रूढ़ियों और राजनीति पर बोलना अपने-आप में चुनौती भरा है। निजी जीवन में किश्वर परम्परा का विरोध करती हैं, सार्वजनिक जीवन में अकेलेपन के ख़तरे उठाती हैं, सत्ता हमेशा उस पर कुपित दृष्टि रखती है, उधर दूसरी ओर रूढ़ि-भंजन और विद्रोह का रोमांच तब ख़त्म-सा हो जाता है जब वह हड़बड़ाहट में छीनी हुई आज़ादी का रौ में एक ऐसे पुरुष को पहले प्रेमी और फिर पति के रूप में चुन लेती है, जिसके लिए स्त्री सिर्फ़ एक देह है। स्त्री अपना दाम्पत्य बचाने के लिए ख़ुद को 'देह' के रूप में घटा भी देती है पर वह भीतर से इसे स्वीकार नहीं कर पाती। उसका आत्म-देह, दमन और विद्रोह से बना है। इसी आत्म की अभिव्यक्ति वह विभिन्न तरीक़ों से करती है। उसकी देह पर बचपन से पहरा है। किश्वर लिखती हैं, 'जब माँ ने मसाला पीसने को कहा, तो मैंने गली में निकलकर अपने हमउम्रों से पूछा 'क्या ये मेरी सगी माँ हैं ? मुझे मिर्चें पीसने को दे देती हैं और मेरी उँगलियों में मिर्चें लग जाती हैं।' आगे बढ़ूँ तो सात साल की उम्र ... अब मुझे बुर्का पहना दिया गया है। मैं गिर-गिर पड़ती थी, मगर मुसलमान घरानों का रिवाज था। 13 साल की उम्र कि जब सारे रिश्ते के भाइयों से मिलना बंद। दुपट्टा सीने पर ढकने का हुक्म। एहतेजाज़ सदा व सहरा। 15 साल की उम्र कॉलेज में दाख़िले के लिए भूख-हड़ताल। 19 साल की उम्र युनिवर्सिटी में दाख़िले के लिए बावेला। 20 साल की उम्र, शादी ख़ुद करने पर असरार। 20 साल की उम्र क्या आयी, शादी क्या हुई, सोच मेरा पहरेदार हो गया।'[63]

आत्मकथ्य की विशेषता है धर्म और परम्पराओं को दमनकारी शक्तियों के रूप में पहचानना, जो स्त्री को मानुषी के रूप में गरिमा देने को तैयार ही नहीं। जो धर्म एक स्त्री से उसका बचपन, उसकी युवावस्था छीन लेता है, सात साल की बच्ची को बुर्का ओढ़ने पर मजबूर कर देता है। पढ़ने के

[63] किश्वर नाहीद (2008) : 32.

लिए, बाहरी दुनिया देखने के लिए उस स्त्री को विद्रोही भूमिका अख़्तियार करनी पड़ती है, उसके लिए कुछ भी सहज नहीं है, यहाँ तक कि मित्रताएँ भी नहीं। किश्वर नाहीद लिखती हैं कि बचपन में ही उनके कान ज़बरन छिदवा दिये गये। बड़े होने पर उन्होने कानों में कुछ न पहनकर छेद बंद हो जाने दिये को विद्रोह के बीज के तौर पर चित्रित किया है कि इस तरह एक स्त्री की ऊर्जा बचपन से ही रूढ़ि के विरोध में चली जाती है। किश्वर नाहीद का आत्मकथ्य प्रतिरोध के साथ-साथ अतीत के प्रति व्यामोह को तोड़ने के औज़ार के रूप में देखा जाना चाहिए नाहीद लिखती हैं :

> कविता ने मुझे बहुत दुख दिये हैं। यदि मैं कविता लिखना छोड़ देती तो हो सकता है मुझे पवित्र और कर्तव्यशील पत्नी के तौर पर स्वीकार कर लिया जाता, अपने भाई-बहनों के नज़दीक होती, दुनिया के बारे में कुछ कम समझ होती, अधिकतर बातें बोलने के लिए बोलती जिसमें ईमानदारी का होना ज़रूरी नहीं, कुछ कम शत्रु बनते मेरे और यह भी महसूस करती हूँ कि अकेले रहने के कारण मेरी ख़ुशियाँ कम कर दीं।
>
> लेकिन कविता ने मुझे संतुष्टि भी दी। मुझे समूचा संसार और मेरा पूरा देश अपनी ननिहाल जैसा लगने लगा। ढेर सारे दोस्तों और शुभचिंतकों के स्नेह की गर्माहट ने मुझे अनथक काम करने की प्रेरणा दी।[64]

किश्वर नाहीद का आत्मकथ्य एक ऐसी पहचान को निर्मित करने का प्रयास है जिसकी जड़ें अंतर्विरोधों में गहरी धँसी हुई हैं। ऊपर से देखने पर यह आत्मकथ्य कई विधाओं के मिश्रण और दो देशों के बीच की आवाजाही को समेटता है, पर भीतर ही भीतर पाकिस्तान की औरतों के हक़ में परचम लेकर खड़ी औरत की मुकम्मल कहानी बयान करता है। इसमें इस्लामिक देश के बनने की कथा चलती है, जिसमें लोकतंत्र का सपना लिए देश के सामंतशाही और कट्टर बनने की प्रक्रिया पैबस्त है। इस पुस्तक के शुरुआती अध्यायों के शीर्षक मुजरा करने वाली, रानी, रखैल, अप्राप्य प्रेमी, सम्पूर्ण नारीवादिनी, शर्मनाक परम्परावादी और ईव हैं, साथ ही राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए भाग्य का सैद्धांतिक विश्लेषण भी है। भूमिका में किश्वर ने 1940 के बाद बदलती दुनिया और स्त्रियाँ के ख़ुद के प्रति बदलते नज़रिये का पता दिया है। मिस्र के अपने मित्र के हवाले से वे कहती हैं— 'मेरी माँ भी तुम्हारी तरह ही बातें करती थी। वह बुर्का पहनती थी लेकिन अब मेरी बेटी बिकनी पहनती है।'[65] 1973 में घटित हुए संवाद का वे 1993 में पुनर्स्मरण करती है और स्त्रियाँ के पहनावों में आये बदलावों को स्त्री स्वतंत्रता और विभिन्न समाजों के आंतरिक तापमान की तुलना करने के लिए इस्तेमाल करती हुई कहती हैं कि उनकी बहुएँ स्पेन और अमेरिका में शॉर्ट्स और स्कर्ट पहनती हैं। किश्वर की भतीजियाँ अमेरिका में डॉक्टरी की पढ़ाई करती हैं जबकि उनकी माँ पाकिस्तान में डोली का इस्तेमाल करती थीं। पूरे उपमहाद्वीप में पिछले 40-45 सालों में आ रहे बदलावों का जायज़ा लेते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि इन सालों में वैयक्तिक स्पेस की माँग बढ़ी है और पुरुष और स्त्री दोनों को पहले से ज़्यादा आज़ादी मिली है। वे घरेलू स्पेस को राष्ट्र की आज़ादी के परिविस्तार के तौर पर देखती हैं, अपने ऊपर अंतर्राष्ट्रीय हस्तियों मसलन मिलान कुंडेरा, विन्सेंट गॉग, मारग्रेट अटवुड, माया एंजेलो के प्रभाव को स्वीकार करती हैं।

पुस्तक के अंतिम भाग में निजी जीवन की छवियाँ, पारिवारिक तस्वीरें, देश और विदेश के दूसरे लेखकों और अकादमिक दुनिया से जुड़े लोगों के साथ के कुछ चित्र शामिल हैं। इन तस्वीरों के साथ-साथ अख़बारों की कटिंग, कई निजी पत्र, जिनमें किश्वर की शादी का सर्टिफ़िकेट भी है, इसके साथ अमेरीकन संगीतकार डोना जीन हेगन द्वारा किश्वर को समर्पित एक संगीत-निर्मिति भी शामिल है। बहुत ही गर्व से किश्वर अपने बारे में भारतीय अख़बार में छपे लेख को भी इसी में स्थान देती हैं

[64] वही : 98-99.

[65] वही : 9.

जिसमें एक कार्टून पत्र का हवाला देते हुए 22 फ़रवरी, 1973 को पाकिस्तान के नेशनल काउंसिल ऑफ़ आर्ट के रेज़िडेंट निदेशक के पद से हटाने पर अपील है। पुस्तक के अंतिम हिस्से में अपनी बात के सत्यापन के लिए उन्होंने तसवीरों और अख़बार की कतरनों का सहारा लिया है। इससे ज़ाहिर होता है कि वे अपने निजी दस्तावेज़ों का पाठ करने के लिए आख्यानात्मकता की जगह जन-सत्यापन की मदद लेने के पक्ष में हैं। साथ ही उन्हें अपने समकालीनों की उपेक्षा का डर भी है और निजी जीवन की घटनाओं या निजी इतिहास को राष्ट्र के वैकल्पिक इतिहास के तौर पर पढ़वा ले जाने की चिंता भी। इन दोनों छोर की चिंताओं के बीच के तनाव को कथ्य की दरारों में देखा जाना चाहिए। आत्मकथ्य का एजेंडा है— पाकिस्तान के सामंती समाज द्वारा घोषित 'बुरी' औरत का प्रतिनिधित्व करना, शब्दों, तस्वीरों, निजी और सामाजिक संवाद द्वारा आत्माभिव्यक्ति के लिए आत्मकथा की विधा को अपनाना। कहना न होगा कि वे अपने इस उद्देश्य में पूरी तरह सफल भी हुई हैं। उनकी कथा पाकिस्तानी समाज की आंतरिक तहों को उजागर करने में सफल है और इसीलिए उस 'बुरी औरत की कथा है' जो सच्ची है तथा ईमानदारी से बात करने का ख़तरा उठा रही है।

मल्लिका अमरशेख़ की आत्मकथा *मला उद्धवस्त व्यायंचय*[66] ने प्रकाशित होते ही तहलका मचा दिया। मराठी के कवि और दलित पैंथर के अग्रणी नेता नामदेव ढसाल की प्रेमिका और बाद में पत्नी बनी मल्लिका ने आत्मानुभवों को सबके सामने लाकर न सिर्फ़ निजी जीवन को सबके सामने व्यक्त करने का साहस किया बल्कि दलित राजनीति, उसके अंतर्विरोधों और नेतृत्व से जुड़े व्यक्तित्व के दोहरे-तिहरे चरित्र के बारे में बेबाक़ी से लिखा। मल्लिका अमरशेख़ की बेबाक़ी ने दलित आंदोलन से जुड़े लोगों को उनका शत्रु भी बना दिया। मल्लिका के पिता शाहिर अमरशेख़ कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, ट्रेड यूनियन और लोक गायकी से सम्बद्ध थे वे साठ के दशक में महाराष्ट्र की राजनीति में सक्रिय भी थे। पिता की राजनीतिक सक्रियता ने मल्लिका को राजनीतिक दृष्टि से सचेतन बनाया साथ ही उम्र के सत्रहवें वर्ष में ही नामदेव ढसाल की कविताई और जुझारू व्यक्तित्व के सम्मोहन में उनसे विवाह का निर्णय ले लिया। लेकिन जीवन का यथार्थ कविता से नहीं चलता।

यह जानना दिलचस्प हो सकता है कि प्रारम्भिक रोमानी आकर्षण के बाद मल्लिका ने जिसे नये सिरे से पहचाना वह नामदेव ढसाल अपने निजी जीवन में, सार्वजनिक चेहरे से बिल्कुल अलग है— उसमें सभी कमज़ोरियाँ हैं। दलित नेतृत्व की ज़िम्मेदारी उठाते-उठाते नामदेव कब अपनी पत्नी के प्रति इतने क्रूर बन गये कि वह उसी घर के दूसरे हिस्से में अलग रहने लगी, और एक संतान के बाद दूसरी संतान को जन्म देने को तैयार नहीं हुई। मल्लिका पति के सार्वजनिक जीवन में आये व्यतिक्रम के बारे में लिखती हैं, 'कम्युनिस्ट के रूप में उसी के समाज द्वारा गतिरोध पैदा हुआ। जल्दी मिली सफलता की आँधी और असफलता के कारण अपने को फ्रस्ट्रेशन से बचा पाना नामदेव के लिए सम्भव नहीं हुआ, इन स्थितियों ने उसे बिल्कुल बदल डाला।' आगे दलित कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करते हुए वे लिखती हैं, 'देखो तुम्हारा नेता शराबी है, रण्डीबाज़ है, वह व्यवहार नहीं जानता लेकिन क्रांति करने निकला है। ऐसे कार्यकर्ता से तुम प्रेम करते हो, वह गुण्डा है, गुप्तरोग का शिकार है, उसके मित्र भी उसके जैसे हैं। वे काहे के पैंथर।'[67]

मल्लिका को अपनी कल्पना के राजकुमार की छवि कभी नामदेव में दिखाई पड़ी थी। वे ढसाल की कविता, उनकी राजनीतिक छवि और साहसिकता की तारीफ़ भी करती हैं कि उन्हें समान वैचारिक स्तर पर बात करने वाला, कविहृदय, कलापारखी प्रेमी-पति मिला है जिसका कहना था मेरी कविता ही राजनीति है। शुरुआत के दिनों के बाद ढसाल अपने सामाजिक-राजनीतिक कार्यों में उलझ जाते

---

[66] मल्लिका अमरशेख़ (2016).

[67] शरण कुमार लिंबाले (2019) : 187.

हैं। मल्लिका कवयित्री है लेकिन वे मात्र 'पत्नी' होकर जीना नहीं चाहतीं। उन्हें अपनी पहचान भी चाहिए। लेकिन घर में पैसों की तंगी है, और मल्लिका के भीतर सुखी समृद्ध जीवन जीने की लालसा 'हमेशा की बीमारी के कारण, कमज़ोरी के कारण, लालन-पालन और विपुल वाचन के कारण मैं एकाकीपन और मनस्वीपन के भावुक आवरण में उलझ गयी। आज तक अपने आप को उससे अलग नहीं कर पायी।[68] अपनी कैशोर्य कल्पना के विषय में वह लिखती हैं, 'मैंने अपने मन में राजकुमार का चित्र उकेरा था। मनमौजी ... कवि, दीखने में स्मार्ट ... साँवला ... उसकी चेष्टाओं में पौरुष हो ... मर्दानगी हो।'[69] युवा कल्पना के अनुसार मल्लिका की कल्पना का घर यों होता, 'सौंदर्य-प्रसाधन, साड़ियाँ, बंगला, पियानो किस तरफ़ हो, काँच के दरवाज़े-विशाल, विपुल रोशनी-खुली प्रसन्न हवा, लाइब्रेरी... सामने छोटा-सा तालाब... मछलियाँ ... लाल-पीली दौड़ती हुई ... खिड़की से दीखने वाला मौलसिरी का पेड़... गुलमोहर, रजनीगंधा के पौधे ... पीछे घना जंगल, लाल पगडण्डी।'[70] मल्लिका का मिज़ाज रोमेंटिक है वह जीवन को उसके पूरेपन में जीना चाहती है। उसका सपना है, 'उबलती गरम चाय ... ठण्डी बरसाती हवा ... बरसात का झोंका ... और हाथों में कॉमिक्स... ओ हो फिर क्या? मानों ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार के आनंद में खो जाती। मेरी वह चरम आनंद के सुख की कल्पना होती है।[71] ऐसा कवि मन ले कर मल्लिका प्रेम और गृहस्थी में प्रवृत्त हुई। जल्दी ही पता चल जाता है कि नामदेव और मल्लिका दोनों विपरीत ध्रुवांतों पर स्थित हैं, जो आपस में टकराते हैं, जूझते हैं और फिर अलग हो जाते हैं।

उधर नामदेव ढसाल का सार्वजनिक, राजनीतिक जीवन बिखरता है और मल्लिका के स्वप्न यथार्थ से टकराते हैं। मल्लिका आत्मानुभवों को लिखती हैं। ये अनुभव पढ़े जाने ज़रूरी हैं क्योंकि इससे पाठक को पता चलता है कि सार्वजनिक जीवन के चेहरों का वैयक्तिक स्वरूप कैसे अलग होता है या हो सकता है, साथ ही किसी भी आंदोलनकर्ता के अपने अंतर्विरोध हो सकते हैं जिससे व्यक्तिगत जीवन अस्त-व्यस्त हो सकता है। मल्लिका बार-बार जीवन को मुड़ कर देखती हैं। स्त्री के लिखते ही 'निज 'राजनीतिक 'कैसे हो सकता है यह देखने के लिए इस आत्मकथा को पढ़ा जाना ज़रूरी है। जो स्त्री कभी कविता, प्रेम और पुरुष को एक करके देखती थी वही नामदेव के पीने-पिलाने की आदत से आजिज़ आ चुकी है। अस्मिता और सांस्कृतिक एकता की राजनीति करने वाला व्यक्ति जब अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने में विफल हो जाता है तो घर के भीतर के स्पेस में वह स्त्री के लिए पीड़क बन जाता है। फिर सब कुछ चाहे बच जाए प्रेम नहीं रहता। वे लिखती हैं कि कैसे वे बहुत सारा साम्यवादी साहित्य, *सोवियत लैंड* मैगज़ीन के गट्ठर के गट्ठर वह बेच दिया करती थी कि घर का ख़र्च चल सके। 'शुरुआत के दिनों में हम निर्धन इसलिए थे कि जो भी धन था उसे हम दलित कार्यकर्ताओं पर ख़र्च कर दिया करते थे, नामदेव की महँगी आदतों पर भी, पर बाद के वर्षों में उसकी बीमारी और इलाज़ पर सारा पैसा ख़र्च होने लगा।' मल्लिका ने नामदेव के इलाज़ का ख़र्च साधने के लिए अपनी माँ का घर भी बेच दिया। आत्मकथा के अंग्रेज़ी अनुवाद से जो धन मिला वह भी नामदेव के इलाज़ में चला गया, लेकिन नामदेव को बचाया नहीं जा सका। मुसलमान पिता, ब्राह्मण माता की बेटी मल्लिका की जीवन यात्रा में अंततः उसके हाथ कुछ नहीं लगा। स्त्री की स्पष्टवादिता और उस स्पष्टवादिता के ख़तरे, स्व की सीमा का अतिक्रमण करके 'निज, का 'पर' में परिविस्तार और फिर समाज, इतिहास, वर्ग के संघातों से गुज़रती हुई स्त्री जो एक 'स्त्री' मात्र नहीं रह

[68] मल्लिका अमरशेख़ (2016) : 3.
[69] वही : 26.
[70] वही : 27.
[71] वही : 06.

जाती बल्कि लाखों–करोड़ों की आवाज बन जाती है। भिन्न समाज और भिन्न संस्कृति की रचनाकार देखे–अनदेखे सभ्य–असभ्य सामाजिकों की चेतना को अपने अनुभव के दायरे में अत्यंत सहजता से घेर लेती हैं।

■■■

इन मुसलमान स्त्रियों की आत्मकथाओं का परिविस्तार निज से लेकर समाज तक, परिवार से लेकर राजनीति तक फैला हुआ है। कहीं तो वे अभिव्यक्ति की नयी विधाओं की तलाश में सिर्फ़ आत्मकथा को ही मुकम्मल पाती हैं, और कहीं वे कविता या ग़ज़ल में अपनी बात अपने ढंग से न कह सकने के कारण आत्मकथा विधा को अपनाती हैं। औपनिवेशिक अतीत और उत्तर–औपनिवेशिक वर्तमान के इतिहास–लेखन के लिए ये आत्मकथाएँ दस्तावेज़ बन सकती हैं। जहाँ प्रारम्भ में ये स्त्रियाँ अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल दीखती हैं, साक्षर बनने और छपने की जद्दोजहद करती दिखाई देती हैं— वहीं नब्बे के दशक के बाद उनमें बदलाव रेखांकित किया जा सकता है। अब वे शिक्षा प्राप्त कर चुकी हैं, देश–विभाजन, विस्थापन ने उन्हें अनुभव–परिपक्व बना दिया है, इसलिए अब वे अपने गद्य में पात्रों को रचती हैं। इन स्त्रियाँ का आत्मकथा–विधा में लेखन राष्ट्राख्यान से स्वयं को जोड़ने और इतिहास की धारा में स्वयं की जीवंत ऐतिहासिक चरित्रों के रूप में शिनाख़्त करवाने की कोशिश के रूप में देखा जाना चाहिए। वे कहीं जीवन को, कहीं स्वयं को पात्र बनाती हैं। उनकी कथाओं में पहले की अपेक्षा तटस्थता, रूपबंध संबंधी प्रयोग, कथानक के बेहतर रचाव के प्रयासों को रेखांकित किया जा सकता है। कहीं–कहीं कथा और आत्मकथा का अंतराल परस्पर संघनित होता दीखता है। पहले से कहीं ज़्यादा खुलेपन और साहस के साथ निज को खोल कर रख देने की कोशिश होती है। स्वयं को कटघरे में रखना, और आत्म पर व्यंग्य करना उसी रणनीति का हिस्सा है जिससे पारिवारिक और सामाजिक सेंसरशिप की बेड़ियाँ टूटती हैं। इसके साथ ही उनकी नज़र में वैश्विक संदर्भ और घटनाएँ भी हैं। मसलन अदा जाफ़री भले ही निज को खोल कर अभिव्यक्त करने में हिचक जाती हों, पर पश्चिम के स्त्रीवादी आंदोलनों पर पैनी नज़र रखती हैं। यहीं नहीं पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान में युद्ध के उस मसले को गम्भीरता से उठाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश बना। इसी तरह किश्वर नाहीद अपनी कथा कहते हुए भी तीसरी दुनिया को परखती चलती हैं, जिसके आलोक में वे स्वयं को, लैंगिक असमानता पर आधारित विकासशील समाज का प्रतिनिधि मानती हैं। यहीं पर वे स्थानीयता का अतिक्रमण करके वैश्विक नागरिकता की दिशा में क़दम बढ़ाती हैं।

संदर्भ

अनीस किदवई (1983), *ग़ुबार–ए–कारवाँ,* मक़तब–ए–जामिया, नयी दिल्ली.

अब्दुल कुदस (1979), *द एनलाइटेंड गाइड,* बांग्ला साहित्य अकादमी, ढाका.

अतिया दाऊद (2004), *आईने के सामने,* लिप्यंतरण : इजलाल मजीद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आबिदा सुल्तान (2004), *मेमॅअर्स ऑफ़ अ रिबेल प्रिंसेस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कराची.

आयशा जलाल (1991), 'द कन्वेनियेन्स ऑफ़ सबसर्विएंस : वुमॅन ऐंड द स्टेट ऑफ़ पाकिस्तान', डेनिज़ केंडियोटी (सं.), *वुमॅन, इस्लाम ऐंड द स्टेट,* पालग्रेव मैक्मिलन, न्युयार्क.

आसिया आलम (2011), *इंटिमेसी अगेंस्ट कन्वेंशन : मैरिज ऐंड रोमांस इन सईदा बानोज़ 'डगर से हट कर',* युनिवर्सिटी ऑफ़ विस्कांसिन, मेडिसन, के दक्षिण एशियाई केंद्र में प्रस्तुत लेख, 21–23 अक्टूबर, 2011.

इस्मत चुग़ताई (1998), *काग़ज़ी है पैरहन,* लिप्यंतरण : इफ़्तिख़ार अंजुम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

किश्वर नाहीद (2008), *बुरी औरत की कथा,* यह अंश *कथा जगत की बाग़ी मुसलमान औरतें,* राजेन्द्र यादव (सं.),

राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

चारु गुप्ता (2000), *सेक्शुअलिटी, ऑब्सेनिटी, कम्युनिटी : वुमॅन, मुस्लिम्स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया,* परमानेंट ब्लैक.

सी.एम. नईम (1987), 'हाउ बीबी अशरफ़ लर्ण्ट टु रीड ऐंड राइट', *एनल्स ऑफ़ उर्दू स्टडीज़,* अंक 6.

ज़े मूर्रे (1912), *भोपाल नवाब सुल्तानजहाँ बेगम, एन अक़ाउंट ऑफ़ माइ लाइफ़,* (अनु.) सी.एच. पायने. खण्ड 1, लंदन.

जहाँआरा हबीबुल्लाह (2001), *रिमेम्बरेंस ऑफ़ डेज़ पास्ट : ग्लिम्प्स ऑफ़ ए प्रिंसली स्टेट ड्यूरिंग द राज,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ज़ोहरा सहगल (2013), *.क़रीब से,* (अनु.) दीपा पाठक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

नवाब सुल्तानजहाँ बेगम (1922), *एन अक़ाउंट ऑफ़ माई लाइफ़',* खण्ड 2, (अनु.) अब्दुस्समद ख़ान, *द टाइम्स,* बम्बई.

नाज़िल राफ़िया सुलतान नवाब बेगम साहिबा (1908), 'सैर-ए-युरोप', *यूनियन स्ट्रीम,* लाहौर, 18 मई.

प्रियम्वदा गोपाल (2005), *लिटेररी रेडिकलिज़्म इन इंडिया : जेंडर, नेशन ऐंड द ट्रांज़िशन टू इंडिपेंडेंस,* रौटलेज, लंदन

सलमा अहमद (2002), *कटिंग फ़्री : एन ऑटोबायोग्राफ़ी,* समा, कराची.

फ़यीज़ा एस. हसनत (2009), 'नवाब फ़ैज़ुन्निसाज़ रूपजलाल', *वुमॅन ऐंड जेण्डर : द मिडल ईस्ट ऐंड द इस्लामिक वर्ल्ड,* खण्ड 07, कोनिक्टलज़िकी ब्रिल, एन.वी.

फ़रीदा शाहिद (1986), 'द कल्चरल आर्टिकुलेशन ऑफ़ पैट्रिआर्की : लीगल सिस्टम्स, इस्लाम ऐंड वुमेन', *साउथ एशिया बुलेटिन ,* अंक 6, सं. 1, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

बेगम अनीस किदवई (2000), *आज़ादी की छाँव में,* अनु. : *नूर नबी अब्बासी,* नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया, नयी दिल्ली.

बेगम ख़ुर्शीद मिर्ज़ा (2005), *अ वुमॅन ऑफ़ सबस्टेंस- मेमॅअर्स ऑफ़ बेगम ख़ुर्शीद मिर्ज़ा,* लुबना काज़िम (सं.), ज़ुबान, नयी दिल्ली.

बेनज़ीर भुट्टो (2000), *मेरी आपबीती,* राजपाल ऐंड संस, नयी दिल्ली.

मल्लिका पुखराज (2003), *साँग संग टू,* (अनु.) : सलीम किदवई, ज़ुबान, काली फ़ॉर वुमॅन, नयी दिल्ली.

मल्लिका अमरशेख़ (2016), *मुझे उध्वस्त होना है,* अंग्रेज़ी अनुवाद : *आई वांट टू डिस्ट्रॉय माइसेल्फ़,* मराठी से (अनु.) जेरी पिंटो, स्पीकिंग टाइगर पब्लिशिंग हाउस, मुंबई.

मैरी जेन डिकरसन (1989), 'शेड्स ऑफ़ डीपर मीनिंग : ऑन राइटिंग ऑटोबायोग्राफ़ी', *जर्नल ऑफ़ कम्पोज़ीशन,* खण्ड 9, अंक 1/2.

सईद नक़वी (1911), *द अदर साइड ऑफ़ इ.क़बाल,* फ्राइडे टाइम्स लाहौर, 15 अप्रैल, 1911.

सईदा बानो अहमद (1990), *डगर से हट कर,* उर्दू अकादमी, नयी दिल्ली.

सुल्तानजहाँ बेगम (1922), 'अल हिज़ाब का पर्दा क्यों ज़रूरी है', कलकत्ता, थैकर, स्पिक.

सैमुअल फ़ैज़ी राहामिन (1938), *रिव्यू टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट,* लंदन; हर्बर्ट जोसफ़, 26 मार्च, 1938.

शाइस्ता सुहरावर्दी (1998), *फ़्रॉम पर्दा टू पार्लियामेंट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कराची.

शाहजहाँ बेगम (1889), *तहज़ीब-उन निस्वाँ वा तरबीयत उल इंसान,* मक़तबा-ए-अंसारी, नयी दिल्ली .

शिवभान लैम्बार्ट-हर्ले और सुनील शर्मा (2010), *अतियाज़ जर्नी : अ मुस्लिम वुमॅन फ़्रॉम कोलोनिअल बॉम्बे टू एडवर्डियन ब्रिटेन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

शौक़त कैफ़ी (2018), *याद की रहगुज़र,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

शौक़त कैफ़ी (2010), *कैफ़ी ऐंड आई, अ मेमॅअर,* (अनु.) नसरीन रहमान, ज़ुबान, नयी दिल्ली.

हमीदा रहमान (1990), *जीबोन स्मृति,* नौरोज़ क़िताबिस्तान, ढाका.

हमीदा सैय्ययादुज्ज़ाफ़र (1996), *आत्मकथा,* लोला चटर्जी (सं), तृंका, नयी दिल्ली.

हमीदा अख़्तर हुसैन (1992), *हमसफ़र,* दानियाल, कराची.